कुण्डार्कः

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



महर्षि अभय कात्यायन

ॐ

विद्यावारिधि आं दीनदयाल मणि त्रिपाठी

।। श्रीः ।।
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
३९४

श्रीशङ्करप्रणीतः

कुण्डार्कः

महामहोपाध्यायाभ्यङ्करोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचित-
कुण्डार्कोदयाभिधसंस्कृतटीकासंवलितः
अर्कप्रभाहिन्दीटीकासहितश्च

हिन्दीव्याख्याकारः
महर्षि अभय कात्यायन



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

कुण्डार्कः

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 0542-2335263
www.chaukhamba.co.in
email : csp_naveen@yahoo.co.in

संस्करण 2014
मूल्य : 200.00

वितरक
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउंण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 011-23286537
email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

भूमिका

यज्ञ भारतीय जीवन-पद्धति का अभिन्न अङ्ग है। भारतीय मनीषियों का जीवन यज्ञ से प्रारम्भ तथा यज्ञ से ही समाप्त होता है। गर्भाधान यज्ञ है। उपनयन यज्ञ है। विवाह यज्ञ है। इसी प्रकार अन्त्येष्टि संस्कार भी एक यज्ञ है। ईश्वर का मूर्तिमान् स्वरूप यज्ञ ही है—'यज्ञो वै विष्णुः'।

इतना ही नहीं; विष्णुसहस्रनाम के अनुसार ईश्वर ही यज्ञी, यज्ञ, यज्ञपति, यज्ञगुह्य, यज्ञकृत्, यज्ञवाहन, यज्वा, यज्ञाङ्ग, यज्ञसाधन तथा यज्ञान्तकृत् भी है; यथा—

भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः।।

यज्ञकृद्यज्ञभृद्यज्ञी यज्ञभुग्यज्ञसाधनः।
यज्ञान्तकृद्यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च।।

यजनकार्य को ही यज्ञ कहा जाता है—'यजनं यज्ञः'। 'य इज्यते स यज्ञः'। 'यजन्ति यत्रेति यज्ञः'। 'इज्यतेऽनेन वा यज्ञः साधनम्' इत्यादि शब्दावली के द्वारा यज्ञ को पारिभाषित किया गया है। भगवान् ही स्वयं यज्ञपति हैं, वे ही यज्ञ करते हैं। मनुष्य भी विष्णु (ईश्वर या ब्रह्म) स्वरूप है; अतः उसके द्वारा हवनकार्य ईश्वर के द्वारा होने वाला कृत्य ही है—

विष्णुर्हि यज्ञस्य पतिः प्रसिद्धो मर्त्योऽपि तत्रास्ति च विष्णुरूपः।
समिद्धवींषीह च सर्वमाज्यं होता च यज्ञस्य पतिः स विष्णुः।
(विष्णुसहस्रनाम, सत्यभाष्य)

यह सम्पूर्ण विश्व ही यज्ञात्मक है। सूर्य, विष्णु अथवा अग्नि ही यज्ञ के प्रधान देवता हैं। यजनस्थल (मण्डपादि), यज्ञसामग्री, ऋत्विजादि सभी यज्ञ के अङ्ग होने से यज्ञाङ्ग हैं तथा यज्ञरूप भी हैं। ईश्वर ही अग्निरूप में यज्ञ के हवि को ग्रहण करते हैं; जैसा कि पं. सत्यदेव वाशिष्ठ अपने भाष्य में कहते हैं—

यज्ञसाधन उद्दिष्टो लोके विष्णुः सनातनः।
अग्निर्मुख्यतमस्तेषां यो विभुर्योऽध्वरे ध्रुवः।।

सभ्यता के विकास में यज्ञ का योगदान—भारत ही नहीं; अपितु विश्व की सभ्यता एवं संस्कृति का जनक यज्ञ ही है। यज्ञ ही भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक

दर्शन—दोनों का विकास करने वाला है। प्राचीन काल की भौतिक उन्नति यज्ञों के द्वारा ही हुई थी। यज्ञों के द्वारा ही वास्तुकला, अङ्कगणित, रेखागणित, बीजगणित, खगोलविज्ञान, कृषिविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, प्राणिविज्ञान, विमानशास्त्र, जलपोतविज्ञान आदि की उन्नति हुई थी। अनेक आविष्कारों का मूल यज्ञों की क्रियायें ही रही हैं।

यज्ञमण्डप तथा कुण्डों का निर्माण—यज्ञमण्डप तथा कुण्डों के निर्माण में अनेक विद्याओं का सहयोग लिया जाता है। उनमें भूमिति तथा त्रिकोणमिति मुख्य हैं। नक्षत्रविज्ञान के सहारे से ही दिशा का निर्धारण सम्भव है; अन्यथा नहीं। अत: इन विज्ञानों का उपयोग करते हुए भारतीय मनीषियों ने मण्डप तथा कुण्डनिर्माण के ऊपर प्रचुर साहित्य रचा था, उसमें अधिकांश भाग धर्मान्ध इस्लामी सत्ता ने नष्ट कर दिया तथा कुछ कालक्रम एवं भौतिक कारणों से नष्ट हो गये। उसमें आज जो कुछ भी उपलब्ध है, उसका अधिकांश भाग अभी भी अप्रकाशित है। उनमें से जो कुछ प्रकाशित भी हुआ है, वह भी देववाणी संस्कृत में है तथा गूढ़ार्थ को समाविष्ट किये हुए है। ऐसे ग्रन्थों में कुछ पर विद्वानों ने संस्कृत टीकाओं का प्रणयन भी किया है, जिनके आलोक में ग्रन्थ की विषयवस्तु से तद्विषय के जिज्ञासु विद्वान् लाभान्वित होते रहते हैं। 'कुण्डार्क' ग्रन्थ भी ऐसे ही अनूठे ग्रन्थों में से एक है।

'कुण्डार्क' नामकरण का रहस्य—ग्रन्थकर्त्ता ने इस ग्रन्थ का नाम 'कुण्डार्क' रखा है, जिसका अर्थ है—'कुण्डरूपी सूर्य'। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सभी वस्तुयें प्रत्यक्ष हो जाती हैं, उसी प्रकार इस ग्रन्थ 'कुण्डार्क' के प्रकाश में मण्डप (यज्ञशाला) तथा कुण्डों के निर्माण की जानकारी स्पष्ट रूप से हो जाती है। इसीलिये इस ग्रन्थ का नाम 'कुण्डार्क' रखा गया है।

इस ग्रन्थ के नामकरण का कारण 'ज्यामिति'-सम्बन्धी है। कुण्डसम्बन्धी जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें कुछ सभी प्रकार के कुण्डों का आधार समचतुरस्र या वर्ग (Square) मानते हैं; परन्तु दूसरा सम्प्रदाय ऐसा भी है, जो सभी आकारों वाले कुण्डों का आधार वर्तुल या वृत्त (Circle) को मानता है। यह ग्रन्थ भी उसी सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें सर्वप्रथम वृत्त का निर्माण होता है; फिर उसके उपरान्त ही उसे अभीष्ट आकार प्रदान करने के लिये अन्य ज्यामितीय (Geometrical) प्रक्रियायें सम्पन्न की जाती हैं। यत: अर्क (सूर्य) का आकार भी वृत्त की भाँति होता है; अत: वृत्त को आधार मानकर रचे जाने के कारण भी ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ का नाम 'कुण्डार्क' रखा है, जो कि समीचीन ही है।

कुण्डार्क की विषयवस्तु—इस ग्रन्थ में मात्र पन्द्रह श्लोक हैं, जिनमें कुण्ड-मण्डपसम्बन्धी सभी सूत्र 'गागर में सागर' की भाँति प्रविष्ट कर दिये गये हैं। ग्रन्थ

का प्रणयन 'समास शैली' में किया गया है, जिसके कारण इस विषय के विद्यार्थी मात्र पन्द्रह श्लोकों को कण्ठस्थ कर तथा उनके भावार्थ को हृदयङ्गम कर विषय में पारङ्गत हो सकते हैं। इस ग्रन्थ में मँण्डप की रचना से लेकर वृत्त कुण्ड, पद्म कुण्ड, अर्धचन्द्र कुण्ड, त्रिकोण कुण्ड, योनि कुण्ड, चतुरस्र कुण्ड, पञ्चास्र कुण्ड, षडस्र कुण्ड, सप्तास्र कुण्ड तथा अष्टास्र कुण्ड—इस प्रकार दस प्रकार के कुण्डों के निर्माण की विधि दी गयी है। कुण्डों के वृत्तव्यास के प्रमाण, वृत्तव्यास से परिधि (Circumference) का आनयन, वृत्तव्यास से कुण्ड-क्षेत्रफल का आनयन, क्षेत्रफल की उपपत्ति, क्षेत्रफल से वृत्तव्यास का आनयन, वृत्तव्यास से भुजसाधन, प्रत्येक कुण्ड का भुजमान, एक हाथ से अधिक क्षेत्रफल के कुण्डों की युक्तिपूर्वक निर्माण-विधि—इन सब बातों का सैद्धान्तिक विवेचन बड़ी ही स्पष्टता के साथ किया गया है।

ग्रन्थकार का परिचय—इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नीलकण्ठ के पुत्र कोई शङ्कर नामक आचार्य हैं। उन्होंने ग्रन्थ में केवल इतना ही सङ्केत किया है। प्रथम श्लोक में उन्होंने कहा है—

'भास्वन्तं नीलकण्ठं पितरमनुसरन् शङ्करो वक्ति कुण्डम्'।

इससे केवल इतना पता चलता है कि ग्रन्थकर्त्ता ने अपने पिता के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है; पर वे कहाँ निवास करते थे तथा उनका जन्म कहाँ हुआ था? उनका रचनाकाल क्या था? उनका जन्म संवत् कौन-सा है? इत्यादि बातों का पता नहीं चलता है। ग्रन्थ की समाप्ति भी 'मितिवदच्छङ्करो नैलकण्ठिः' कहकर कर डाली है। किसी अन्य ग्रन्थ में भी ग्रन्थकार का परिचय नहीं दिया गया है। इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका में भी कहीं ग्रन्थलेखक का परिचय नहीं दिया गया है। ग्रन्थकार महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे।

कुण्डार्क की संस्कृत टीका—कुण्डार्क पर महामहोपाध्याय श्री पं० वासुदेव-शास्त्री अभ्यङ्कर की संस्कृत टीका उपलब्ध है, जो कि मूल के साथ 'आनन्द आश्रम पूना' की प्रेस से मुद्रित हुई है। इसमें टीकाकार ने निम्न श्लोक में टीका का रचना-काल दिया है—

त्रीष्विभेन्दुमिते शाके वत्सरेऽथ प्रजापतौ।
श्रावणे मासि कुण्डार्कटीका श्रीभास्करेऽर्पिता।।

इसके अनुसार इस संस्कृत टीका का प्रणयन शकाब्द १८५३ में हुआ था। तदनुसार विक्रम संवत् १९८८ तथा ईस्वी सन् १९३१ होता है।

तब इतना तो निश्चय ही है कि यह ग्रन्थ इसके पूर्व ही रचा जा चुका था। साथ ही यह एक अनुपम कृति है।

प्रस्तुत संस्करण के विषय में—प्रस्तुत संस्करण उसी आनन्द आश्रम प्रकाशित प्रति के आधार पर ही सिद्ध किया गया है। यह ग्रन्थ प्रथम बार ही हिन्दी टीका के साथ ज्योतिष जगत् में प्रकट हो रहा है। टीका को विषय के जिज्ञासुओं के लिये सुस्पष्ट तथा सुबोधगम्य बनाया गया है। यथास्थान चित्र भी दे दिये गए हैं तथा अन्त में परिशिष्टों के माध्यम से यज्ञीय उपकरणों आदि का परिचय भी चित्रों के साथ दे दिया गया है।

संवत् २०६० विक्रमी
फाल्गुन शुक्ला एकादशी
(आमलकी एकादशी)

विदुषामनुचरः
महर्षि अभय कात्यायन

विषयानुक्रमणी



।। श्रीः ।।

कुण्डार्कः

महामहोपाध्यायाभ्यङ्करोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचित-
कुण्डार्कोदयाभिधसंस्कृतटीकासंवलितः
अर्कप्रभाहिन्दीटीकासहितश्च

**भास्वन्तं नीलकण्ठं पितरमनुसरञ्शङ्करो वक्ति कुण्डं
भूद्व्यब्ध्यष्टाङ्गहस्तं दशशतहवनात्तद्दशघ्नोत्तरे स्यात्।
हस्तः स्यादूर्ध्वबाहोः प्रपदगमखिनः पञ्चमोंऽशोऽङ्गुलं
तत्सिद्धांशस्तद्द्वजांशो यव उरगलवस्तस्य यूकाऽष्टलिक्षा ॥१॥**

*** कुण्डार्कोदया ***

भास्वन्तमिति। श्रीशङ्करनामा पण्डितः स्वकीयं पितरं भास्वन्तं सूर्यवद्देदीप्यमानं नीलकण्ठनामानमनुसरन्पितुः सकाशात्प्राप्तसाम्प्रदायिकविद्यानुसारेण वक्तुं प्रवृत्तः सन् कुण्डं वक्ति। कुण्डसम्बन्ध्याकारविशेषायामविशेषादिविचारं करोति। कुण्डमाकारभेदेन दशविधम्। वृत्त १ अब्ज २ अर्धचन्द्र ३ योनि ४ त्र्यस्र ५ चतुरस्र ६ पञ्चास्र ७ षडस्र ८ सप्तास्र ९ अष्टास्र १० भेदात्। दशविधमपि च तत्रत्येकं पुनरायामभेदेन पञ्चविधम्। भूद्व्यब्ध्याष्टाङ्गहस्तम्। भूशब्देनैकसङ्ख्योच्यते। अब्धिशब्देन च चतुःसङ्ख्याऽङ्गशब्देन षट्सङ्ख्या चोच्यते। एकहस्तप्रमाणायामं द्विहस्तप्रमाणायामं चतुर्हस्तप्रमाणायामं षड्हस्त-प्रमाणायाममष्टहस्तप्रमाणायामं चेति पञ्चविधम्। यत्र दशशतसङ्ख्याकं हवनं तत्रैकहस्तं कुण्डं भवति। तस्याश्च दशशतसंख्याया दशसङ्ख्यया गुणने या सङ्ख्या सम्पद्यते तत्पर्यन्त-हवनमेकहस्तम्। तत आरभ्य द्विहस्तम्। तदपि लक्षपर्यन्तम्। तत आरभ्य दशलक्षपर्यन्तं चतुर्हस्तम्। तत आरभ्य कोटिपर्यन्तं षड्हस्तम्। तदुत्तरमष्टहस्तम्। तत्र नास्त्यवधिः। दशघ्नं दशगुणितम्। हनधातुर्गुणनवाची। दशशतहवनात्प्राक्तु स्थण्डिलेन सिद्धिः। अत्रेदं बोध्यम्। दशघ्नोत्तर इत्युक्तेरग्नौ प्रक्षिप्तानि हविर्द्रव्याणि यथा कुण्डाद्बहिर्न गच्छेयुस्तथा कुण्डं कर्तव्यमित्यभिप्रायः। तेन किञ्चिन्न्यूनायुतहवनेऽपि द्विहस्तकुण्डसिद्धिः। यत्र बिल्वोदुम्बर-फलसदृशानि स्थूलानि हविर्द्रव्याणि भवन्ति तत्रायुतात्प्राक्तनसङ्ख्याकान्यप्येकहस्ते कुण्डे न सम्मितानि भवेयुः। तथा च हविर्द्रव्याणां सङ्ख्यां स्थूलत्वमणुत्वं यजमानहस्तप्रमाणं

चाऽऽलक्ष्य तदनुसारेणैकहस्तादिष्वन्यतमं कुण्डं विरच्यं भवति। सपादहस्तं सार्धहस्तं वा न क्वापि कर्तव्यमिति। न च लाघवात्सर्वत्रैकविधमेवाष्टहस्तं कुण्डं भवतु। तेनैव सर्वत्रेष्टं सिद्धं भवत्येव। इष्टं च कुण्डाद्बहिर्हविर्द्रव्यस्यानिर्गम इति वाच्यम्। तथा सत्यष्टहस्ते कुण्डे दशशतहवने कुण्डतलप्रपूरणमपि न स्यात्। हविर्द्रव्यैः कुण्डं यथा कृत्स्नं प्रपूर्येत गलपर्यन्तं वा पादोनं वा ततः किञ्चिन्न्यूनं वा तथा विधेयम्। अर्धान्न्यूनं यदि पूर्येत तदा कदाऽपि न विधेयं भवति। उत्तरार्धे हस्ताङ्गुलयवयूकालिक्षाणां प्रमाणं प्रदश्र्यते—**हस्त इति।** प्रपदं पादाग्रम्। मखी यजमानः। सिद्धाश्चतुर्विंशतिः। गजा अष्टौ। उरगा अष्टौ। पादाग्रमात्रं भुवि प्रस्थाप्योर्ध्वमवस्थित ऊर्ध्वबाहुश्च यो यजमानस्य पादाग्रमारभ्य हस्ताग्रपर्यन्तं प्रमितस्य सूत्रस्य यः पञ्चमोंऽशः स हस्तः। तस्य हस्तस्य यश्चतुर्विंशतितमोंऽशः सोऽङ्गुलम्। तस्याङ्गुलस्य गजांशोऽष्टमांशो यवः। तस्य यवस्योरगलवोऽष्टमोंऽशो यूका। सा च यूकाऽष्टलिक्षापरिमिता। यूकाया अष्टमांशो लिक्षेत्यर्थः॥१॥

*** अर्कप्रभा ***

विघ्नेशं विश्वनाथञ्च प्रणमामि मुहुर्मुहुः।
कात्यायनोऽहमभयो रचयामि अर्कप्रभा॥

ग्रन्थकार नीलकण्ठात्मज श्रीशङ्कर ग्रन्थारम्भ करते हुए कहते हैं—

मैं शङ्कर अपने सूर्यसदृश देदीप्यमान पिता श्री नीलकण्ठ का अनुसरण करते हुए (उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के अनुसार) कुण्डसम्बन्धी ज्ञान का वर्णन करता हूँ। आकारभेद से कुण्ड मुख्यतः दश प्रकार के होते हैं—

१. वृत्ताकार कुण्ड—यह कुण्ड वृत्ताकार (Circular) होता है।
२. अर्धचन्द्र कुण्ड—यह अर्धवृत्ताकार (Semi-circular) होता है।
३. योनि कुण्ड—यह योन्याकार (Vulvar shaped) होता है।
४. त्र्यस्र कुण्ड—यह सम त्रिकोणाकृति (Trigonal shaped) होता है।
५. अब्ज कुण्ड—यह कमलाकृति (Lotus shaped) कुण्ड है।
६. चतुरस्र कुण्ड—यह वर्गाकार (Squarish) होता है।
७. पञ्चास्र कुण्ड—यह पञ्चभुज (Pentagonal) होता है।
८. षडस्र कुण्ड—यह षड्भुजाकार (Hexagonal) होता है।
९. सप्तास्र कुण्ड—यह सम सप्तभुजाकार (Heptagonal) होता है।
१०. अष्टास्र कुण्ड—यह समाष्टकोणात्मक (Octogonal) होता है।

ये दश आकारों वाले प्रत्येक कुण्ड क्षेत्रफल के अनुसार पाँच प्रकार के होते हैं—

(क) भूहस्तात्मक—एक हाथ वाले कुण्ड को भूहस्तात्मक कहा जाता है। 'भू' का अर्थ एक होता है, अर्थात् ५७६ अङ्गुल होता है।

(ख) द्विहस्तात्मक—इसमें क्षेत्रफल दो हाथ (११५२ अङ्गुल) होता है।

(ग) अब्धिहस्तात्मक—यह चार हाथ क्षेत्रफल का (२३०४ अङ्गुल) होता है। अब्धि का अर्थ चार होता है।

(घ) अङ्गहस्तात्मक—यह छः हाथ के मान वाला कुण्ड होता है।

(ङ) अष्टहस्तात्मक—यह आठ हाथ के आयाम वाला होता है।

जहाँ होम का प्रमाण दश शत (अयुत) सङ्ख्या से न्यून हो, वहाँ एक हाथ के कुण्ड से काम चल जाता है। इस दश सहस्र को दश गुना करने से एक लाख होता है। यहाँ तक के लिये दो हाथ वाले कुण्ड का उपयोग होता है। फिर दश लक्ष प्रमाण तक चतुर्हस्त कुण्ड से काम चल जाता है। उसके उपरान्त कोटि होमपर्यन्त छः हाथ के क्षेत्रफल वाले कुण्ड की आवश्यकता होती है। इससे भी अधिक होम करना हो तो आठ हाथ का कुण्ड बनाना चाहिए। इसके आगे कोई सीमा नहीं है। क्योंकि इससे अधिक आहुति के होम प्रायः नहीं होते हैं। मूल में दशघ्न शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ दश से गुणा करना है; क्योंकि हन् धातु का प्रयोग गुणनकर्म के लिए होता है। शारदातिलक में कहा गया है—

मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्धे सम्प्रचक्षते।
शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्रके।।

द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम्।
दशलक्षे तु षड्ढस्तं कोट्यामष्टकरं स्मृतम्।।

लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्धयेत्।

अभिप्राय यह है कि होम द्रव्यकुण्ड से बाहर न फैले, उतना बड़ा कुण्ड होमार्थ बनाना चाहिये। यदि बेलफल या उतने ही बड़े फलों का उपयोग हवन-सामग्री में हो, तब कुछ अधिक आयाम का कुण्ड बनाना भी समीचीन होता है। होमकुण्ड का प्रमाण हविर्द्रव्यों की स्थूलता तथा सूक्ष्मता को देखकर निर्धारित करें। कुण्ड का माप यजमान के हस्त से ही करना चाहिये। किन्तु सवा हाथ, डेढ़ हाथ या पौने दो हाथ के कुण्ड का निर्माण कथमपि नहीं करना चाहिये। अपितु एक-दो-चार-छः आदि (पूर्णाङ्क) के मापन से ही कुण्ड का निर्माण अभीष्ट होता है। इसी प्रकार छोटे-बड़े सभी हवनों के लिये आठ हाथ का एक ही कुण्ड बनाकर उसमें हवन करना ठीक नहीं होता। जितना प्रमाण होम का हो, उतने प्रमाणानुसार निर्मित कुण्ड में ही हवन करें। इसमें मनमानी करना शास्त्रविरुद्ध होता है।

कुण्ड से बाहर हविर्द्रव्य न फैले, यही अभीष्ट है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हवनोपरान्त हवनकुण्ड कण्ठपर्यन्त या पौना (पादोन-$\frac{3}{4}$) भाग पूरित हो

जाय। यदि इतना न हो तो पौने से कुछ कम में भी काम चल सकता है; किन्तु इससे अधिक न्यून नहीं होना चाहिये। जैसे कि मान लो कुण्ड तो आठ हाथ प्रमाण वाला बन जाय और उसमें हवन मात्र दश सहस्र आहुति प्रमाण का हो तो उससे कुण्ड की तली भी प्रपूरित नहीं हो सकेगी।

होमाहुति के अनुसार कुण्डक्षेत्रफल का चक्र

स्थण्डिल	एकहस्त	द्विहस्त	चतुर्हस्त	षड्ढस्त	अष्टहस्त	क्षेत्रफल प्रमाण
एक सहस्रपर्यन्त	दश सहस्रपर्यन्त	दश सहस्र से ऊपर	लक्ष से ऊपर	दश लक्ष	कोटि होम	आहुति प्रमाण

अब श्लोक के उत्तरार्ध में हस्त की माप कैसे करें? यह बताया जा रहा है—

यदि यजमान समतल भूमि पर सीधा खड़ा होकर अपनी दोनों भुजायें आकाश की ओर (दोनों कानों के बगल) में प्रसारित कर ले तो उसकी अङ्गुलियों के छोर से पैर की अङ्गुलियों तक जो माप होगी, उसका पञ्चमांश ($\frac{१}{५}$ भाग) या बीस प्रतिशत एक हाथ की माप होगी। तात्पर्य यह कि हर ऊर्ध्व बाहु यजमान की ऊँचाई पाँच हाथ की होती है। यजमान के देहयष्टि की दीर्घता एवं ह्रस्वता के आधार पर हस्त प्रमाण में भिन्नता होती है। परन्तु यही प्रमाण मान्य किया गया है; इस प्रकार—



एक हाथ—यह चौबीस अङ्गुल प्रमाण का होता है।

एक अङ्गुल—यह यजमान-हस्त के चौबीसवें भाग ($\frac{१}{२४}$) तुल्य होता है। मूल में सिद्धांश कहा गया है।

एक यव—अङ्गुल का गजांश (अष्टमांश या आठवाँ भाग = $\frac{१}{८}$) इतना एक यव का प्रमाण होता है।

एक यूका—उस यव प्रमाण का अष्टमांश (मूल में उरगलव) एक यूका का प्रमाण होता है।

एक लिक्षा—यूका का आठवाँ भाग एक लिक्षा का प्रमाण होता है। अर्थात् एक यूका में आठ लिक्षा होती है।

यद्यपि शास्त्रों में इससे आगे भी सूक्ष्म प्रमाण लिखा है; परन्तु 'कुण्ड-मरीचिका' ग्रन्थ का मत है कि मण्डपादि में यव से नीचे की माप की उपेक्षा (व्यावहारिक रूप में) की जा सकती है—

यवादूनं प्रमाणन्तु मण्डपादौ न चिन्तयेत्।

आठ लिक्षा = एक यूका।
आठ यूका = एक यव।
आठ यव = एक अङ्गुल।
२४ अङ्गुल = एक हस्त।

छायान्तो मध्यशङ्कोः समभुवि विहितं मण्डलं येन गच्छे-
दुज्झेत्तत्स्थानयुग्मं तदनुगतगुणः प्राग्गुणोऽथोदगंशुः।
तस्यान्ताभ्यां तदर्धाधिकगुणकृतयोर्मत्स्ययोर्मध्यतः स्या-
त्तत्सन्धेर्भ्रामयांशुं कुरु वलयमितः सर्वकुण्डप्रसिद्धिः॥२॥

कुण्डार्कोदया—अथ कुण्डस्य दिक्साधनायै प्राच्यादिसाधनमाह—**छायान्त इति।** छाया 'सावली' इति प्रसिद्धं भाषायाम्। शङ्कुः सूक्ष्मा लोहशलाका दारुमयी वा। गुणशब्दोंऽशुशब्दश्च सूत्रवाची। समायां भुवि परितो वर्तुलं यथा भवेत्तथा मध्ये शङ्कुर्निधेयः। शङ्कुमूले सूत्रपाशं प्रमुच्य परितः सूत्रभ्रामणेन वर्तुलं साधयेत्। शङ्कुप्रमाणापेक्षया सूत्रप्रमाणं तृतीयेन भागेनाधिकमावश्यकमेव। न तु ततः कथमपि न्यूनम्। तथाहि—शङ्कोश्छाया मध्याह्नात्पूर्वं पूर्वाह्णे पश्चिमतो दृश्यते। मध्याह्नादनन्तरमपराह्णे पूर्वस्यां दृश्यते। तथा शङ्कुच्छायाग्रं सूर्यगत्यनुसारेण पश्चिमतः समागत्य वर्तुलरेखां वर्तुलपश्चिमभागे स्पृष्ट्वा वर्तुलान्तः प्रविश्य मध्याह्नसन्धिकाले शङ्कुसमीपमागत्य ततोऽपराह्णे वर्तुलपूर्वभागे वर्तुलरेखां स्पृष्ट्वा वर्तुलाद्बहिर्निर्गच्छति। वर्तुलस्य यच्छायाग्रप्रवेशकालिकं छायाग्रस्पर्शस्थानं तत आरभ्य च्छायाग्रनिर्गमनकालिकच्छायाग्रस्पर्शवर्तुलस्थानपर्यन्तं यत्सूत्रं तत्प्राचीसाधकं प्राक्सूत्रमित्युच्यते। प्राक्सूत्रमेव प्राग्गुण इत्युच्यते। अत्र यदि वर्तुलसाधकस्य शङ्कुवर्तुलान्तरसूत्रस्थप्रमाणं शङ्कुप्रमाणापेक्षया त्रिभागाधिकं न स्यात्तर्हि वर्तुलमल्पं स्यादिति धनुःस्थे सूर्ये वर्तुलाद्बहिरेवोत्तरेण च्छायाग्रं पश्चिमतः पूर्वस्यां गच्छेत्। मिथुनस्थे तु सूर्ये वर्तुलाद्बहिर्दक्षिणेन गच्छेदिति प्राचीसाधनं न स्यात्। यद्यपि शङ्कुप्रमाणापेक्षया भ्रामणसूत्रस्य प्रमाणमर्धेनाधिकं स्याद्द्विगुणं वा स्यात्तर्हि प्राचीसाधनं भवेत्तथाऽपि यावता लघुप्रमाणेन सिद्धिस्तावदत्राऽऽवश्यकतयोक्तं लाघवात्। यदि च भ्रामणसूत्रमतिमहत्स्यात्तर्हि प्रातश्छायाग्रं वर्तुलाद्बहिर्न दृश्येतेति। इदं चात्रावधेयम्। वर्तुलस्य पश्चिमे भागे पूर्वाह्णे जायमानो यश्छायाग्रस्पर्शः स मध्याह्नसन्धिकालात्पूर्वं यावता कालेन भवति तावतैव कालेनान्यूनानतिरिक्तेन वर्तुलस्य पूर्वभागेऽपराह्णे छायाग्रस्पर्शो भवति। प्राक्पश्चिमतो निम्नोन्नतायां भुवि वर्तुलं चेदुक्तस्पर्शद्वये कालतो वैषम्यं दुर्निवारमिति प्राचीसाधनं न स्यात्। निम्नप्रदेशे छायाग्रगतेः शैघ्र्यं तथोन्नते प्रदेशे छायाग्रगतेर्मान्द्यं सन्दृश्यते। अतः समभुवीत्युक्तम्। अथैतत्प्राक्सूत्रमाश्रित्यैवोदीचीसाधकमुदक्सूत्रमुच्यते। उदगंशुरुदक्सूत्रम्। तस्य पूर्वोक्तस्य प्राक्सूत्रस्य

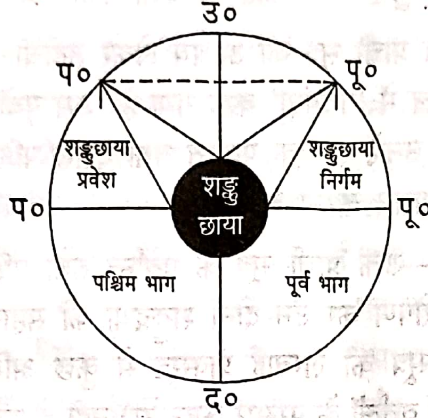
यौ द्वावन्तौ, एकः पश्चिमान्तोऽपरः पूर्वान्तः, ताभ्यां द्वौ मत्स्यौ साधनीयौ। तथाहि—तादृशप्राक्सूत्रान्तद्वये प्रत्येकमेकः शङ्कुर्वर्तुलसाधक इति शङ्कुद्वये वर्तुलद्वयसाधकं निधेयम्। वर्तुलद्वयसाधकभ्रामणसूत्रप्रमाणं च प्राक्सूत्रस्वार्धापेक्षया किञ्चिदधिकमावश्यकमेव। अन्यथा मत्स्योत्पत्तिर्न स्यात्। यद्यपि प्राक्सूत्रतुल्यप्रमाणग्रहणेऽपि मत्स्योत्पत्तिः स्यात्तथाऽपि गौरव-कारणं स्यात्। अतो याव-दावश्यकं तावदेवोक्तम्। एतद्वर्तुलद्वयं च पूर्णं नापेक्ष्यते। पश्चिम-शङ्कोः परितो वृत्तस्य पूर्वार्धं पूर्वशङ्कोः परितो वर्तुलस्य पश्चिमार्धं चापेक्ष्यते। अनयोश्च पूर्वार्धपश्चिमार्धयोर्मिथः सन्धिर्दक्षिणत एक उत्तरतश्चापर इति सन्धिद्वयं भवति। तत्र दक्षिण-सन्धिमारभ्योत्तरसन्धि-पर्यन्तं यत्सूत्रं स्यात्तदुदक्सूत्रमित्युच्यते। यश्च भूभाग उक्तयोः पूर्वार्ध-पश्चिमार्धयोर्द्वयोरन्तः प्रविशति तन्मत्स्यद्वयशरीरम्। तत्र प्राक्सूत्रादुत्तरो भाग एको मत्स्यो दक्षिणो भागश्चापरो मत्स्यः। सन्धिद्वयं च मत्स्यमुखद्वयम्। एवं प्राचीसाधकं प्राक्सूत्रमुदीची-साधकमुदक्सूत्रं च साधितम्। प्राचीसाधनेनैव प्रतीच्यपि साधिता भवति। उदीचीसाधनेन दक्षिणादिक् च साधिता भवति। अथैतत्सूत्रद्वयमाश्रित्य कुण्डरचनाप्रकारमाह—**तत्सन्धे-रिति।** तयोः प्रागुदक्सूत्रयोर्यः सन्धिस्तत्र शङ्कुं निधाय तत्र स्वेष्टकुण्डविशेषानुसारिप्रमाणेन सूत्रेण वलयं कुरु। तेन च वलयेन सर्वविधकुण्डानि साधितानि भवन्तीत्यर्थः।।२।।

अर्कप्रभा—अब कुण्डनिर्माणार्थ प्राच्यादि दिशाओं का साधन बताया जा रहा है। छाया का अर्थ परछाईं होता है। मराठी में इसे सावली कहा जाता है। सूक्ष्मा लोह-शलाका या काष्ठशलाका को 'शङ्कु' कहते हैं।

सूत्र—डोरी, धागा, रस्सी आदि को संस्कृत में गुण तथा सूत्र कहते हैं (आज-कल फीते से नापते हैं)।

शङ्कुरोपण—सम भूमि पर शङ्कु का रोपण इस प्रकार से करना चाहिये, जिससे उसके चारो ओर सूत्र भ्रमण करने पर वर्तुल (Circle) का साधन हो जाय। शङ्कु-प्रमाण की अपेक्षा सूत्र की लम्बाई शङ्कु के तृतीय भाग ($\frac{१}{३}$) अर्थात् ३३.३३ प्रतिशत अधिक होना चाहिये। ऐसा होना अनिवार्य है। शङ्कु की अपेक्षा तृतीयांश अधिक से सूत्र का माप कथमपि न्यून नहीं होना चाहिये। कहा गया है कि शङ्कु की छाया मध्याह्नपूर्व अर्थात् पूर्वाह्न काल में पश्चिम की ओर दिखायी पड़ती है। मध्याह्नोपरान्त अर्थात् अपराह्न काल में शङ्कु की छाया पूर्व की ओर दृष्टिगोचर होती है। शङ्कुच्छाया का अग्र भाग सूर्य की गति के अनुसार पश्चिम से वर्तुल रेखा में चलता हुआ पश्चिम भाग को स्पर्श करने के उपरान्त वर्तुल के भीतर से प्रविष्ट होकर मध्याह्न के समय छोटी होकर शङ्कु के समीप आकर फिर अपराह्न काल में वर्तुल के पूर्वभाग की रेखा का स्पर्श कर वर्तुल से बाहर निकल जाती है। वर्तुल का जो छायाग्र प्रवेशकालिक छायाग्रस्पर्शस्थान है, वहाँ से आरम्भ कर छायाग्र निर्गमनकालिक छायाग्रस्पर्श वर्तुल

स्थान तक जो सूत्र होगा, वही प्राची-साधक सूत्र होगा। उसी को प्राक्सूत्र, प्राग्गुण आदि कहते हैं। (आगे दिये गये चित्र में जहाँ प = पश्चिम बिन्दु है, वह छायाग्र का प्रवेशस्थान है तथा जहाँ पू = पूर्व बिन्दु है, वह छायाग्र के निर्गम का स्थान है। इन दोनों के मध्य की लम्बाई वाला जो सूत्र है, वही प्राक्सूत्र है। वृत्त के मध्य में शङ्कु गाड़ने का स्थान है।)



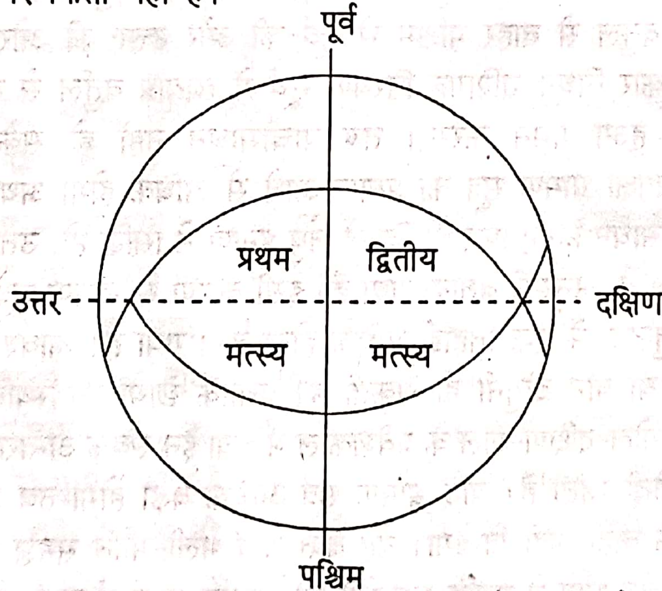
शङ्कुसूत्र के पूर्वकथित अनुपात में अन्तर से विप्रतिपत्ति—अब जैसा कि पूर्व में बता चुके हैं कि यदि यहाँ पर 'वर्तुलसाधक शङ्कु' से वर्तुलान्तर सूत्र का प्रमाण त्रिभाग अधिक नहीं होगा, तब वर्तुल अल्प होगा। ऐसे में धनु राशिस्थित निरयण सूर्य में छायाग्र वर्तुल से बाहर पश्चिम से पूर्व की ओर उत्तर की ओर होता हुआ जायेगा। इसी प्रकार मिथुन राशिगत निरयण सूर्य में छायाग्र वर्तुल से बाहर दक्षिण दिशा में होता हुआ गमन करेगा। तब प्राचीसाधन नहीं हो सकेगा। यद्यपि शङ्कुप्रमाण की अपेक्षा भ्रामण सूत्र का प्रमाण आधे से अधिक होगा अथवा द्विगुणित होगा, तभी प्राचीसाधन होगा; फिर भी जितने लघु प्रमाण से सिद्धि हो, उतना ही प्रमाण यहाँ आवश्यकता के अनुसार बताया गया है। इसी कारण से भ्रामण सूत्र की लम्बाई शङ्कुप्रमाण की तुलना में एक तिहाई अधिक होना कहा गया है। आवश्यकता पड़ने पर यह ड्योढ़ी या पौने दोगुनी हो सकती है। क्योंकि छाया की स्थिति उत्तरायण-दक्षिणायन, उत्तरगोल-दक्षिण-गोल के प्रवेशकाल में तथा इन सबके अन्तराल में लम्बाई में छोटी-बड़ी होती रहती है। यदि भ्रामण सूत्र अधिक बड़ा होगा तब प्रात:काल में छायाग्र वर्तुल के बाहर नहीं दिखेगा। यह बात यहाँ भली-भाँति समझ लेनी चाहिये कि वर्तुल के पश्चिम भाग में पूर्वाह्ण समय में जो छायाग्र स्पर्श होता है, वह मध्याह्न-पूर्व (अपराह्ण) में जितने समय तक होता है उतने ही समय के तुल्य (न्यूनाधिक नहीं) वर्तुल के पूर्वभाग में अपराह्ण काल (मध्याह्नोत्तर) भी छायाग्र का स्पर्श होता है।

वर्तुलसाधन मे समतल धरातल की आवश्यकता—वर्तुल का साधन समतल भूमि में करना चाहिये; अन्यथा यदि भूमि किसी दिशा में ढालू हो तो दिक्साधन में

कठिनाई आती है। क्योंकि यदि उक्त वर्तुल का निर्माण ऐसी भूमि में होगा जो कि पूर्व से पश्चिम की ओर ऊँची-नीची हो तो मध्याह्न पूर्व तथा पश्चिम के छायाग्र स्पर्श कालों में विषमता उत्पन्न होगी। जब निम्न प्रदेश में छायाग्र जायेगा तो शीघ्रता होगी। इसके विपरीत छायाग्र जब उन्नत प्रदेश में जायेगा तब छायाग्र की गति में मन्दता होगी। अत: सम भूमि होनी चाहिये—ऐसा कहा गया है।

उदक्सूत्र—अब इस प्राची सूत्र का आश्रय लेकर उदीची-साधक उदक्सूत्र भी कहा जा रहा है, जिसे मूल में 'उदगंशु' कहा गया है। उस पूर्वोक्त प्राची सूत्र के जो दो अन्त (छोर) होते हैं, उनमें से एक पूर्वान्त तथा दूसरा पश्चिमान्त होता है। उन दोनों में दो मत्स्यों का साधन करना चाहिये।

मत्स्य-साधनविधि—उक्त प्राची सूत्र के पूर्वान्त तथा पश्चिमान्त बिन्दुओं पर परकाल या सूत्रशंकु का रोपण कर उन दोनों शङ्कुद्वयों की सहायता से दो वृत्तों का निर्माण करें। परन्तु उदक्सूत्र की लम्बाई प्राक्सूत्र से कुछ अधिक रखनी चाहिये; अन्यथा मत्स्योत्पत्ति (दोनों वर्तुलों के परस्पर कटने से) नहीं हो सकेगी। यदि उदक्सूत्र की लम्बाई भी प्राक्सूत्र के तुल्य हो तो दोनों वर्तुलों का परस्पर स्पर्शमात्र होगा। उनकी सन्धि के दोनों ओर उत्तर तथा दक्षिण दिशाएँ होंगी। इन दोनों वर्तुलों को पूरा बनाने की आवश्यकता नहीं है।



चित्र में खण्डित रेखा द्वारा उदक्सूत्र दर्शाया गया है। इसमें दो मत्स्य हैं, एक मत्स्य का मुख दक्षिण सन्धि में तथा दूसरे का उत्तर सन्धि में है। इस प्रकार दो मत्स्य बनते हैं।

यहाँ प्राची-साधक प्राक्सूत्र तथा उदीची (उत्तर) साधक उदक्सूत्र कहे जा चुके

हैं। पूर्व दिक् साधन के पश्चात् ही उत्तर-दक्षिण का साधन हो जाता है। जिस प्रकार पूर्व बिन्दु के विपरीत दिशा में पश्चिम दिशा होती है, उसी प्रकार उत्तर के विपरीत दक्षिण दिशा होती है। इन दोनों सूत्रों से दोनों दिशाओं का ज्ञान बताया गया है। जहाँ पर प्राची सूत्र तथा उदक्सूत्र की सन्धि की दूरी से आधी दूरी हो, वहाँ शङ्कु गाड़कर अपने लिये अभीष्ट कुण्डनिर्माणार्थ उस प्रमाण का सूत्र लेकर उससे वलय (वर्तुल) का निर्माण कीजिये। उसी वलय से सभी प्रकार के कुण्डों का साधन हो जायेगा।।२।।

विशेष—कुण्डदर्पण के अनुसार विना दिक्साधन किये ही कुण्डों का निर्माण करने से मृत्युभय होता है। वृद्धनारद के वचन से दिशाओं की सम्यक् जानकारी न होने पर यदि कुण्डनिर्माण हो जाय तो कुल नष्ट हो जाता है। कुण्डप्रदीप का कथन है कि 'कुरुते दिङ्मूढमर्थक्षयम्' अर्थात् यदि आचार्य तथा यजमान दिशाज्ञान में मूर्ख (भ्रमित) हों तो धन का क्षय होता है। कुण्डप्रदीप का कथन है कि यदि यज्ञकर्त्ता दिशाओं की स्थिति के विषय में भ्रान्त है तो उस दिग्भ्रान्त कुण्ड के हवन का फल भी भ्रान्तिदायक ही होता है। परन्तु यदि होमस्थान पर्वत, नदीतट, गृह या रुद्रायन (शिवालय) की भूमि में हो तो दिक्साधन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वर्तमान में दिक्सूचक यन्त्र की सहायता से किसी भी स्थान में दिशाओं की सही जानकारी की जा सकती है।

अयन-परिवर्तन—इस टीका में धनु तथा मिथुन के सूर्य का उल्लेख इसलिये किया गया है कि जब निरयण सूर्य धनु राशि के सात अंश पर होते हैं तब उस समय २२ दिसम्बर के लगभग सायन सूर्य मकर में प्रविष्ट होता है, तब सायन उत्तरायण प्रवेश कहलाता है। इस दिन सूर्य की किरणें सीधी होकर पृथ्वी पर स्थित मकर रेखा पर (जो कि भूमध्य रेखा के ठीक साढ़े तेईस अंश पर उत्तर में स्थित है) सीधी पड़ती हैं। तब उत्तरी गोलार्ध में (भारतवर्ष में) सबसे छोटा दिन तथा सबसे बड़ी रात्रि होती है। उस दिन सूर्य का उदय ठीक पूर्व में न होकर उस पूर्वी बिन्दु से साढ़े तेईस अंश हट करके उत्तर की ओर होता है।

इसी प्रकार इस उत्तरायण के दिन से दिन बढ़ने लगता है तथा रात्रि घटने लगती है, जो कि घटते-घटते निरयण मिथुन राशि के सात अंश पर सूर्य के पहुँचने पर रुक जाती है। उस दिन सबसे बड़ा दिन होता है तथा सबसे छोटी रात होती है। उस दिन सायन कर्क संक्रान्ति का प्रवेश होता है; अतः दक्षिणायन कहलाता है। दक्षिणायन के दिनाङ्क को दिनमान ३५ घटी (१४ घण्टे) हो जाता है, जो कि उत्तरायण तक घटते-घटते पुनः केवल २५ घटी (दस घण्टे) मात्र ही रह जाता है। दक्षिणायन के दिन भी सूर्य ठीक पूर्व में उदित न होकर भूमध्यरेखा के साढ़े तेईस दक्षिण अक्षांश

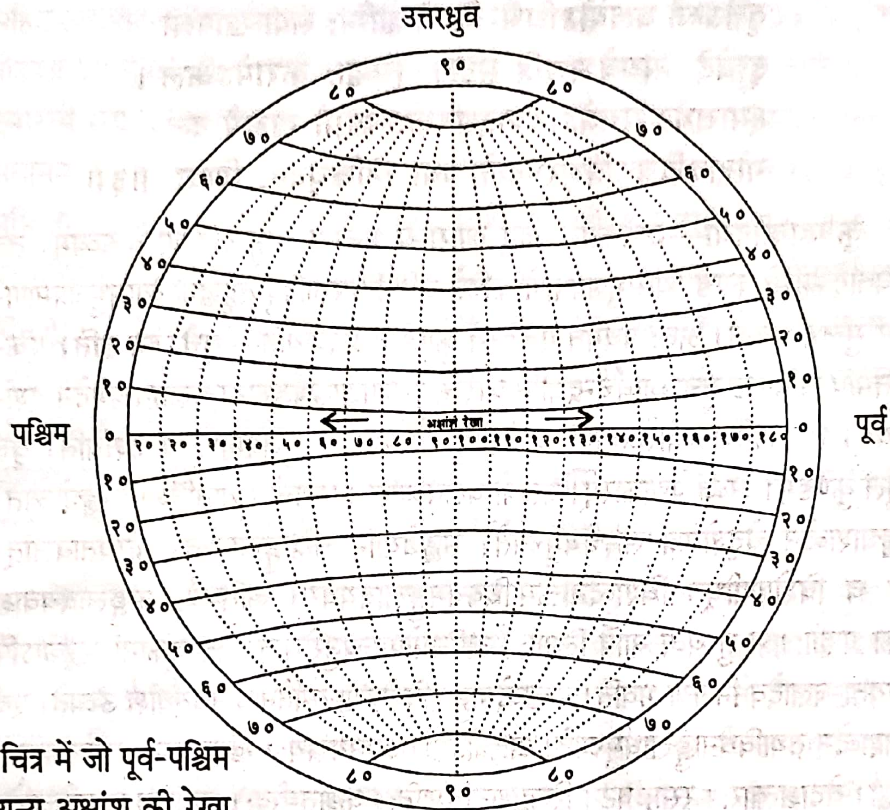
पर उदित होता है। फिर धीरे-धीरे भूमध्य रेखा की ओर (ठीक पूर्व की ओर) सरकता हुआ उदित होता है। सायन दक्षिणायन के दिन अंग्रेजी मास जून की २१ तारीख होती है। उस दिन सूर्य की सीधी किरणें कर्क रेखा पर पड़ती हैं।

गोल-परिवर्तन—जैसे उत्तरायण तथा दक्षिणायन दो अयन (सूर्य की गतियों के) होते हैं, उसी भाँति उत्तर गोल तथा दक्षिण गोल—ये दो गोल भी होते हैं। इन गोलों का सम्बन्ध सम्पात बिन्दुओं से है। जिस दिन सूर्य निरयण मीन राशि के सात अंश पर होता है, उसी दिन वह सायनगणना से मेष के आरम्भ बिन्दु पर होता है। यह उत्तर गोल का दिन है। इस दिन २१ मार्च की तारीख पड़ती है। इसमें उत्तर गोल में सूर्य प्रविष्ट होता है। इस दिन दिन तथा रात समान होते हैं। बारह घण्टे (तीस घटी) का दिन तथा बारह घण्टे (तीस घटी) की रात भी होती है। इस दिन सूर्य ठीक पूर्व में अर्थात् भूमध्य रेखा पर उदित होता है और सूर्य की किरणें ठीक भूमध्य रेखा पर पड़ने से पृथ्वी के उत्तरी गोलार्ध में गर्मी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस दिन के बाद दिनमान १२ घण्टे (३० घटी) से बढ़ता हुआ चला जाता है तथा रात्रि उसी क्रम से घटती चली जाती है और सायन दक्षिणायन तक घटती ही रहती है। यह वसन्त-सम्पात का दिन भी कहलाता है।

जब निरयण सूर्य का प्रवेश कन्या राशि के सात अंशों पर होता है तब सायन मत से तुला के प्रारम्भ में होता है। यह दक्षिण गोल का दिन है। इस दिन सूर्य फिर से भूमध्य रेखा (विषुवत् रेखा) पर होते हैं तथा दिन-रात बराबर हो जाते हैं। इस दिनाङ्क (२२ सितम्बर) को सूर्य का दक्षिण गोल में प्रवेश हो जाता है और दिन बारह घण्टे से क्रमशः न्यून होता चलता है और रात्रि बढ़ती जाती है। यह शरद-सम्पात का दिन कहा जाता है। इस दिन भी सूर्य भूमध्य रेखा पर अर्थात् ठीक पूर्व दिशा में ही उदित होते हैं।

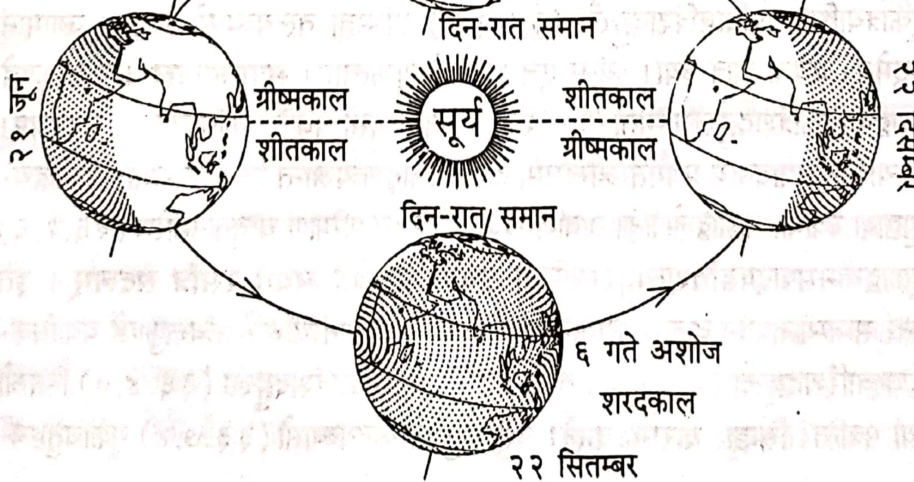
इस प्रकार वर्ष में इन दो दिनाङ्कों को पूर्व दिशा का ज्ञान विना किसी कठिनाई के हो सकता है; क्योंकि इन दोनों दिवसों को सूर्य भूमध्य रेखा पर ही स्थित रहता है। ये ही दिन विषुव दिन कहलाते हैं।

भूमध्य रेखा—पृथ्वी पर पूर्व से पश्चिम की ओर को लङ्का के दक्षिण से एक रेखा कल्पित की गयी है, जो पृथ्वी के गोले को दो समान भागों में विभाजित करती है। उत्तरी भाग उत्तर गोल तथा दक्षिणी भाग दक्षिण गोल कहलाता है। भूमध्य रेखा को ही विषुव वृत्त तथा विषुवत् रेखा कहा जाता है। संस्कृत के विषुव वृत्त का ही अपभ्रंश अंग्रेजी का इक्वेटर (Equator) शब्द है, जो कि भूमध्य रेखा के लिए प्रयुक्त होता है। अरबी में इस रेखा को एअतदाल कहते हैं।



अक्षांश एवं देशान्तर

(चित्र में जो पूर्व-पश्चिम शून्य अक्षांश की रेखा है, वही भूमध्य रेखा है। उसके २३½ अंश उत्तर में कर्क रेखा तथा इतने ही अंश दक्षिण में मकर रेखा होती है।)



वृत्तेऽब्जे वलयोऽधिभैरधिपदे ह्यग्निः सपात्खानलो
दृग्वेदे सयवे रसत्रि सदलं सिद्धाः करामेऽकले।
क्ष्मारामे सयवेऽधिपादधृतयोऽनङ्घ्रौ खरामे दलं
गोद्वावत्रियवत्रिभूरपदले ज्या निस्त्रियूकाः शिवाः ॥३॥

कुण्डार्कोदया—अथैकहस्तादिषु व्यासस्य भुजानां चाङ्गुलप्रमाणं वक्तव्यम्। तत्र लाघवादेकहस्ते कुण्डे व्यासभुजप्रमाणे कथिते सति द्विहस्तादिषु तद्वृद्ध्या व्यासभुजप्रमाणज्ञानं सुलभं भवति। अतः प्रथमत एकहस्ते कुण्डे तत्प्रदर्शयति—**वृत्तेऽब्ज इति।** एकहस्तमपि च कुण्डं वृत्ताब्जार्धचन्द्रयोनि त्र्यस्रचतुरस्रपञ्चास्रषडस्रसप्तास्राष्टास्रभेदेन दशविधम्। तत्र क्रमेण व्यासप्रमाणं त्र्यस्रादिषु व्यासप्रमाणं भुजप्रमाणं च दर्शयति। वृत्तं वर्तुलं कुण्डम्। अब्जं पद्माकारम्। वलयो वलयव्यासः। भशब्देन सप्तविंशतिसङ्ख्योच्यते। सङ्ख्याशब्देन चेदृशेनात्र सङ्ख्येयमुच्यते। सङ्ख्येयानि चात्राङ्गुलान्येव। योग्यताबलात्। तत्र च विशेषणीभूतमधिशब्देनोक्तमाधिक्यमङ्गुलावयवैरेव कतिपयैः अङ्गुलावयवाश्च यूका ग्राह्याः। न तु यवा नापि लिक्षाः। अग्निमोपपत्त्यनुरोधात्। तत्र यूकानां सङ्ख्याऽपि योग्यता-बलादेव निर्णेया भवति। पच्छब्देनाङ्गुलविशेषणान्तर्गतेनाङ्गुलचतुर्थांश उच्यते। एवं दलशब्देन तथाविधेनाङ्गुलार्धमुच्यते। अह्न्योऽष्टौ। अग्नयस्त्रयः। खं शून्यम्। अनलास्त्रयः। दृग्द्वौ। वेदाश्चत्वारः। रसाः षट्। सिद्धाश्चतुर्विंशतिः। कश्चतुर्मुखः। तेन चतुःसङ्ख्योच्यते। रामास्त्रयः। कला षोडशो भागः। स चाङ्गुलविशेषणान्तर्गतत्वादङ्गुलस्यैव। क्ष्मैका। धृतयोऽष्टादश। अङ्घ्रिश्चतुर्थांशः। स चाङ्गुलविशेषणान्तर्गतत्वादङ्गुलस्यैव। दलमर्धम्। तच्चाङ्गुलविशेषणान्तर्गतत्वान्नाङ्गुलस्य । किन्तु प्रकृतस्ववाक्योपात्तखरामपदबोध्यसङ्ख्याया एव। गावो नव। भूरेका। दलमर्धमङ्गुलस्य। अङ्गुलविशेषणान्तर्गतत्वात्। ज्या भुजाः। शिवा एकादश। अयमर्थः—वृत्तकुण्डे पद्मकुण्डे च पञ्चयूकाधिकैः सप्तविंशत्यङ्गुलैः (२७.०.५) सम्मितो वलयव्यासो भवति। भुजाभावात्तन्मानं नोक्तम्। अधिपदह्यग्निः। अर्धचन्द्राकारकुण्डे यूकात्रयाधिकसपादाष्टत्रिंशदङ्गुलैः (३८.२.३) सम्मितो वलयव्यासो भवति। ज्यामानं चेदमेव। एकैव चात्र ज्या। व्यास एव भुजोऽत्रेत्युक्तत्वात्। **सपात्खानलः।** योनिकुण्डे ज्याद्वयाधिकत्रिंशदङ्गुलसम्मितो (३०.२.०) वलयव्यासो भवति। योनिकुण्डे च ज्याद्वयम्। योन्याकारसम्पादनाय प्रथमतस्त्र्यस्रसम्पादनेऽपि तादृशत्र्यस्रान्तर्गताया उभयतः श्रोणीद्वयस्पृष्टाया ज्यायाः पश्चाद्विलोपात्। अवशिष्टस्य ज्याद्वयस्य परिमाणं च वृत्तानुसारेण (२६.१.६) यूकाद्वयोनसपादषड्विंशत्यङ्गुलसम्मितं ज्ञेयम्। **ऋग्वेदे सयवे रसत्रि सदलम्।** इत उत्तरं सप्तम्यन्तपदेन वलयव्यासमानं प्रथमान्तपदेन भुजमानं चोच्यते। त्र्यस्रकुण्डे यवाधिकद्विचत्वारिंशदङ्गुलो (४२.१.०) वलयव्यासः। सार्धषट्त्रिंशदङ्गुला (३६.४.०) स्तिस्रो ज्या भवन्ति। **सिद्धाः करामेऽकले।** चतुरस्रकुण्डे वलयव्यासो (३३.७.४) यूकाचतुष्टय-

सहितयवसप्तकसहितत्रयस्त्रिंशदङ्गुलसम्मितः अकले षोडशांशरहिते करामे ३४ अङ्गुलस्य षोडशांशश्च यूकाचतुष्टयं भवति। तत्र भुजमानसिद्धाः २४ चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मकं भवति। **क्ष्मारामे सयवेऽधिपादधृतयः।** पञ्चास्त्रकुण्डे एकयवसहितैकत्रिंशदङ्गुलात्मकं वलयव्यासमानम् (३१.१.०)। भुजमानं च यूकात्रयसहितसपादाष्टादशाङ्गुल-(१८.२.३)-सम्मितम्। **अनङ्घ्रौ खरामे दलम्।** षडस्त्रकुण्डे पादोनत्रिंशदङ्गुलसम्मितो (२९.६.०) वलयव्यासः। तादृशवलयव्याससमानस्य दलमर्धं (१४.७.०) भुजमानम्। **गोद्वावत्रिय-वत्रिभूः।** गोद्वाविति गोद्विशब्दस्य सप्तम्यन्तं पदम्। सप्तास्त्र एकोनत्रिंदशङ्गुलात्मको (२९.०) वलयव्यासः। अत्रियवा यवात्रयरहिताः। त्रिभूस्त्रयोदश। भुजमानं पञ्चयवाधिक-द्वादशाङ्गुल(१२.५.०)सम्मितम्। **अपदले ज्या निस्त्रियूकाः शिवाः।** गोद्वावित्यनुवर्तते। अष्टास्त्रेऽङ्गुलार्धरहितागोद्वि(२८.४.०)सम्मितो वलयव्यासः। भुजमानं च यूकात्रयरहिताः शिवाः। यूकात्रयरहितैकादशाङ्गुल(१०.७.५)सम्मितम्।।३।।

अर्कप्रभा—अब इस तीसरे श्लोक में एक हस्तादि कुण्डों में व्यास तथा भुजाओं का अङ्गुल-प्रमाण बताना आवश्यक है। एतदर्थ लाघव के लिये एक हाथ के प्रमाण वाले कुण्ड में यदि व्यास एवं भुजाओं का प्रमाण कह दिया जाय तो फिर उसी के अनुसार द्विहस्तादि कुण्डों के व्यास एवं भुजमान जानना सरल हो जायेगा। अतः सर्वप्रथम एक हाथ कुण्ड के वृत्तव्यास एवं भुजमान की विवेचना की जा रही है।

यह एक हाथ का कुण्ड भी वृत्ताकार, पद्माकार, अर्धचन्द्राकार, योन्याकार, त्रिकोणाकार, चतुरस्राकार, पञ्चास्र, षडास्र, सप्तास्र तथा अष्टास्र भेदों से दश प्रकार का होता है। उनमें क्रम से व्यास का प्रमाण तथा त्र्यस्रादि में व्यास एवं भुज का प्रमाण बताया जा रहा है।

१. वृत्त कुण्ड—वृत्तकुण्ड में सत्ताइस अङ्गुल शून्य यव तथा पाँच यूका (२७.०.५) इतने प्रमाण का वृत्त व्यास या वलय व्यास होता है। वृत्त में भुजा नहीं होती है अतः केवल वलय व्यास का ही मान दिया गया है।

२. पद्म कुण्ड—पद्मकुण्ड में भी वलय व्यास का मान वृत्त कुण्ड के बराबर ही (२७.०.५) होता है। अर्द्धव्यास १३.०.०.२.४ होता है।

३. अर्द्धचन्द्र कुण्ड—यह अर्द्ध वृत्ताकार होता है। इसमें वृत्त का व्यास अड़तीस अङ्गुल, दो यव तथा तीन यूका होता है। अर्थात् ३८.२.३ होता है (जिसका आधा १९.१.१.४ व्यासार्ध होता है)। पद्मकुण्ड एवं वृत्तकुण्ड की भाँति अर्द्धचन्द्राकृति कुण्ड में भी भुजाभाव होता है, अतः भुज का प्रमाण इसमें भी नहीं दिया गया है। इसमें एक ही ज्या होती है। अतः व्यास का मान तथा भुजा का मान तुल्य ही होता है।

वृत्त कुण्ड

वृत्तव्यास २७.०.५
वृत्तार्ध १३.०.०.२.४

पद्म कुण्ड

अर्धव्यास
१३.०.०.४
व्यास २७.०.५

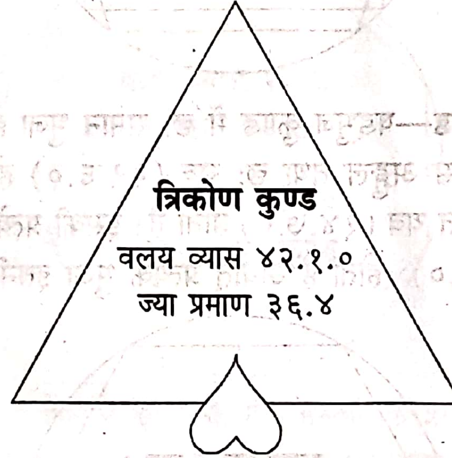
व्यासार्द्ध १९.१.१.५.७

अर्धचन्द्र कुण्ड

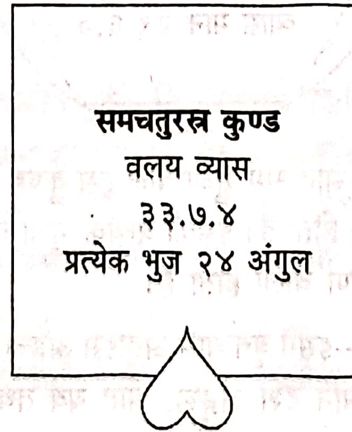
४. योनि कुण्ड—इसमें तीस अङ्गुल, दो यव प्रमाण का वृत्त व्यास होता है अर्थात् ३०.२.० होता है। इसमें दो ज्या होती है। इस कुण्ड को योन्याकार प्रदान करने के लिये प्रथम त्रिकोणाकार सम्पादित करने पर भी उस प्रकार के त्रिकोण के भीतर दोनों ओर से दोनों श्रोणी को स्पर्श करती हुई ज्या पश्चात् में विलोपित हो जाती है। तब अवशिष्ट दो ज्याओं का परिमाण वृत्तानुसार छब्बीस अङ्गुल, एक यव तथा छः यूका (२६.१.६) ही होता है।

अब आगे के कुण्डों में भुजमान कहा जा रहा है—

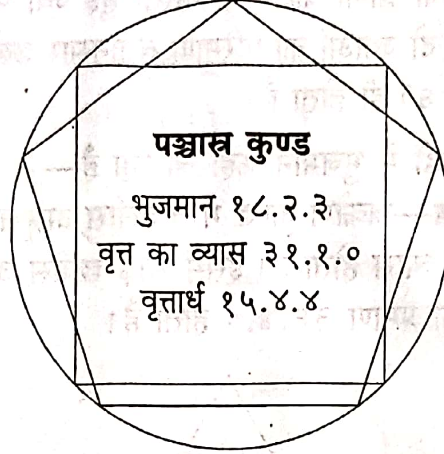
५. त्रिकोण कुण्ड—त्रिकोण कुण्ड में बयालीस अङ्गुल तथा एक यव प्रमाण (४२.१.०) का वलय व्यास होता है। इसमें साढ़े छत्तीस अङ्गुल वाली तीन ज्या होती है अर्थात् ज्या का प्रमाण ३६.४.० होता है।



६. चतुरस्र कुण्ड—इसमें वलय व्यास तैंतीस अङ्गुल, सात यव तथा चार यूका (३३.७.४) होता है तथा चौबीस अङ्गुल भुजमान होता है।



७. पञ्चास्त्र कुण्ड—पञ्चास्त्र कुण्ड में इकतीस अङ्गुल, एक यव तथा शून्य यूका (३१.१.०) प्रमाण का वलय व्यास होता है तथा भुजमान अट्ठारह अङ्गुल, दो यव तथा तीन यूका (१८.२.३) होता है।

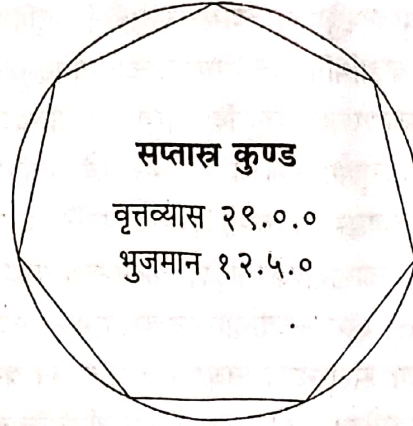


(८) षडस्त्र कुण्ड—षड्भुज कुण्ड में छः समान भुजा होती है। इसमें वलय व्यास का मान उनतीस अङ्गुल तथा छः यव (२९.६.०) होता है एवं व्यासार्द्ध चौदह अङ्गुल तथा सात यव (१४.७.०) होता है। इसकी प्रत्येक भुजा का भुजमान भी इतना ही (१४.७.०) होता है अर्थात् प्रत्येक भुजा इतनी ही लम्बी होती है।

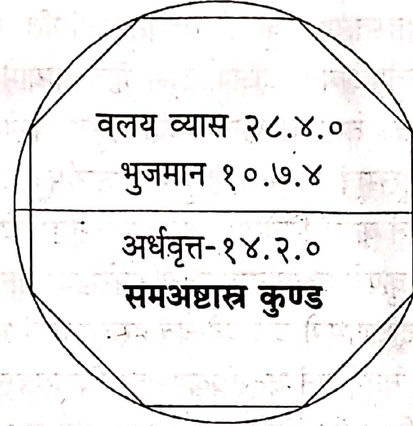


९. सप्तास्त्र कुण्ड—सात सम भुजा वाले इस कुण्ड में वृत्त (वलय) का व्यास उन्तीस अङ्गुल (२९.०.०) होता है। इसकी प्रत्येक भुजा का मान बारह अङ्गुल तथा पाँच यव (१२.५.०) प्रमाण वाला होता है।

१०. अष्टास्त्र कुण्ड—इसमें वृत्तव्यास अट्ठाइस अङ्गुल तथा चार यव (२८.४.०) होता है। प्रत्येक भुज का मान दश अङ्गुल, सात यव तथा पाँच यूका (१०.७.५) होता है।



योनि



इस प्रकार इस श्लोक में कुण्ड के एक हस्तात्मक प्रमाण के अनुसार प्रत्येक प्रकार के (दश प्रकार के) कुण्डों का वलय व्यास का प्रमाण तथा उनका भुजप्रमाण अङ्गुलादि में लिखा गया है। दो हाथ, चार हाथ, छः हाथ, आठ हाथ आदि कुण्डों में उनका प्रमाण किस अनुपात से बढ़ाना चाहिये ? यह वर्णन अब अग्रिम श्लोक के पूर्वार्द्ध में दिया जा रहा है तथा इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में पूर्व दिक्सूत्र तथा उदक् दिक्सूत्रादि की विवेचना होगी।

द्विघ्नोऽब्धिघ्ने फलेंऽशुर्दलिनि विदशमेनाङ्घ्रिणेद्धो द्विनिघ्ने
त्र्यंशेन स्वाङ्घ्रिभाजा वियुगगुणलवस्वाङ्घ्रि तद्द्विघ्नमन्त्ये।
कोट्यः पूर्वोत्तरांश्चोरिह वरुणदिशः पुच्छपार्श्वास्यपार्श्वा
अंसौ पार्श्वास्यमध्यावनुजघनयुगं मध्यतः पुच्छकुक्ष्योः ॥४॥

कुण्डार्कोदया—एवं दशविधेऽप्येकहस्ते कुण्डे व्याससूत्रमानं भुजमानं चोक्तम्। अथ तदेव सूत्रमानं द्विहस्तादौ कियतांऽशेन वर्धनीयामिति तद्द्विघ्न इति पूर्वार्धेन दर्शयति—

नन्वेकहस्ते कुण्डे यावत्परिमाणं व्याससूत्रं गृहीतं तद्द्विहस्ते कुण्डे द्विगुणं ग्राह्यं चतुर्हस्ते कुण्डे चतुर्गुणितं ग्राह्यमिति ज्ञायते एव तत्किमर्थमिदमुच्यत इति चेद् भ्रान्तोऽसि। एकहस्ते कुण्डे यावत्यवकाशे हविर्द्रव्याणि सम्मान्ति हविर्द्रव्यप्रक्षेपयोग्यो यावानवकाशस्तावतोऽवकाशस्य द्विगुणोऽवकाशो यस्मिन्कुण्डे भवति तत्कुण्डं द्विहस्तमिति ज्ञेयम्। न तु द्विहस्ते कुण्डे कुण्डस्याऽऽयामो द्विहस्तो भवति। एवमेव चतुर्हस्तादिषु ज्ञेयम्। तदित्थम्—समचतुरस्रोऽणुः काष्ठखण्डस्तादृशः कल्पनीयो यस्य पूर्वपश्चिमायामो दक्षिणोत्तरायामश्चाङ्गुलात्मको भवेत्। अध ऊर्ध्वायामश्चैकहस्तात्मको भवेत्। एतादृशानि काष्ठान्येकहस्ते कुण्डे यदि मिथः संलग्नानि निवेश्यन्ते तर्हि तत्र षट्सप्तत्यधिका पञ्चशती तादृशानां काष्ठानां सम्मिता भवेत्। एतदेव (५७६) फलमित्युच्यते। हस्तो हि चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मकः तस्य वर्गश्चतुर्विंशत्या गुणितः चतुर्विंशतिः। सा च षट्सप्तत्यधिका पञ्चशत्येव भवति। यच्च द्विहस्तायामं कुण्डं तच्चतुर्हस्तमिति गीयते। एकहस्तापेक्षया चतुर्गुणितफलसद्भावात् पूर्वपश्चिमतो दक्षिणोत्तरश्च द्विहस्तायामे कुण्ड एकहस्तकुण्डतुल्याश्चत्वारो भागा भवन्ति। तथा च फल एकहस्तकुण्डफले—अब्धिघ्ने चतुर्गुणिते सति तत्रांशुरेकहस्तकुण्डमूलसूत्रं द्विघ्नः, द्विगुणितं कार्यम्। अष्टचत्वारिंशदङ्गुलात्मकं कार्यमित्यर्थः। तदेव चतुर्हस्तं कुण्डं विज्ञेयम्। तत्र हस्तचतुष्टयं चेत्थं ज्ञेयम्। पूर्वपश्चिमतः दक्षिणोत्तरतश्च द्विहस्तायामे कुण्डे मध्यगतया पूर्वपश्चिमरेखया भागद्वयं परिकल्प्य तत्रोत्तरभागे समचतुरस्रं हस्तद्वयं दक्षिणभागे च तथैवेत्येवं हस्तचतुष्टयं भवति। एतादृशे चतुर्हस्ते कुण्डे फलं चैकहस्तापेक्षया चतुर्गुणितं चतुरधिकशतत्रयाधिकसहस्रद्वयं भवति (२३०४)। अस्मिंश्च फले दलिन्यर्धेनाधिके विवक्षिते सति कियता सूत्रेण कुण्डं विरच्यमित्याह—**विदशमेनाङ्घ्रिणेद्ध इति।** चतुर्हस्ते कुण्डेऽशुश्चाष्टचत्वारिंशदङ्गुलात्मकः। स चाङ्घ्रिणा चतुर्थांशेन द्वादशात्मकेनेद्धो वर्धितः षष्ट्यङ्गुल-(६०)-परिमितो भवति। स च चतुर्थांशो द्वादशात्मकः स्वकीयेन दशमेनांशेन रहितः कार्यः। द्वादशाङ्गुलसूत्रस्य दशमो भागश्चैकमङ्गुलमेको यव ईषद-धिकाश्चतस्रो यूकाश्च। तेनोना षष्टिश्च तादृशयूकाचतुष्टयसहितयवषट्कसहिताष्टपञ्चाशदङ्गुलात्मिका (५८.६.४) भवति। इयदेव षड्हस्ते कुण्डे सूत्रमित्यर्थः।

अथ द्विहस्तं कुण्डं कियता सूत्रेण भवतीत्याह—**द्विनिघ्ने त्र्यंशेन स्वाङ्घ्रिभाजा वियुगगुणलवस्वाङ्घ्रीति।** एकहस्तकुण्डफले षट्सप्तत्यधिकपञ्चशत्यात्मके (५७६) द्विनिघ्ने द्विगुणिते सति द्विपञ्चाशदधिकैकशतयुतमेकसहस्रं (११५२) भवति। तादृशे फले विवक्षिते सत्येकहस्तकुण्डांशुश्चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मकस्त्र्यंशेन स्वतृतीयांशेनाष्टाङ्गुलात्मकेन वर्धनीयः। न केवलं तावतैव। किन्तु स त्र्यंशः स्वाङ्घ्रिभावस्वकीयचतुर्थांशेनाङ्गुलद्वयात्मकेन युतः। न केवलमेतावदेव, किन्तु सोऽङ्गुलद्वयात्मकश्चतुर्थांशो वियुगगुणलवः। स्वकीयेन चतुस्त्रिंशत्तमेनांशेन रहितः। अङ्गुलद्वयस्य चतुस्त्रिंशत्तमोंऽशः स्थूलदृष्ट्येष-

दूनयूकाचतुष्टयमितः। तथा च द्विहस्ते कुण्डे व्याससूत्रं यूकाचतुष्टयसहितयवसप्तकासहित-त्रयस्त्रिंशदङ्गुलात्मकं (३३.७.४) भवति। एतदेव च सूत्रं द्विघ्नं द्विगुणितं (६७.७.०) सप्तयवाधिकसप्तषष्ट्यङ्गुलात्मकं सूत्रमष्टहस्ते कुण्डे विज्ञेयम्। अन्त्येऽष्टहस्ते। अष्टहस्ते फलं तु द्विहस्तकुण्डापेक्षया चतुर्गुणितमष्टाधिकषट्शताधिकसहस्रचतुष्टयं (४६०८) भवति। अथोत्तरार्द्धेन परिभाषामाह—**कोट्य इति।** पूर्वांशुः प्राक्सूत्रम्। उत्तरांशुरुदक् सूत्रस्म। तयोश्चतस्रः कोट्यः। प्रत्येकमग्रद्वयमिति चत्वार्यग्राणि। वरुणदिक् पश्चिमा। तत आरभ्य तेषां चतुर्णामग्राणां क्रमेण चतस्रः संज्ञा भवन्ति। प्राक्सूत्रस्य पश्चिमाग्रं पुच्छम्। उदक्सूत्रस्योत्तराग्रं पार्श्वम्। प्राक्सूत्रस्य पूर्वाग्रमास्यम्। उदक्सूत्रस्य दक्षिणाग्रं पार्श्वम्। अग्रचतुष्टयं चैतद्वृत्तरेखां स्पृशति। सूत्रद्वयानुसारेणैव वृत्तनिर्माणात्। पार्श्वास्वयोर्मध्यावंसौ। दक्षिणपार्श्वास्ययोर्मध्यो दक्षिणांसः। उत्तरपार्श्वास्ययोर्मध्य उत्तरांसः। तथा दक्षिणपार्श्व-पुच्छयोर्मध्ये दक्षिणं जघनम्। उत्तरपार्श्वपुच्छयोर्मध्य उत्तरं जघनमिति।।४।।

अर्कप्रभा—कुण्डप्रमाण के अभिप्राय का कथन—एक हाथ के कुण्ड के लिये एक हाथ लम्बाई का सूत्र (नपना, फीता, धागा या रस्सी) लेना चाहिये। तब दो हाथ के लिये उससे द्विगुणित तथा चार हाथ के कुण्ड हेतु उससे चतुर्गुणित लेना चाहिये। इसका वास्तविक अभिप्राय क्या है? इसे समझे विना भ्रान्ति रह जायेगी। अतः इस भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है।

कुण्डधारिता की व्याख्या—एक हाथ प्रमाण वाले कुण्ड में जितने अवकाश (Capacity) में हविर्द्रव्य समाता है अर्थात् हविर्द्रव्य डालने के लिये उस कुण्ड की जितनी क्षमता होती है, उस अवकाश से द्विगुणित क्षमता जिस कुण्ड में होती है, उस कुण्ड को दो हाथ प्रमाण वाला कुण्ड जानना चाहिये। न कि दो हाथ लम्बा तथा दो हाथ चौड़ा जो कुण्ड है, उसको द्विहस्त प्रमाण समझना चाहिये। ऐसा समझना भूल होगी। इसी प्रकार चार हाथ वाले कुण्ड का तात्पर्य वह कुण्ड है, जिसमें एक हाथ कुण्ड में होम किये जा सकने वाले हविर्द्रव्य की अपेक्षा चौगुना हविर्द्रव्य आहुतियों द्वारा प्रक्षेपित करने पर समा जाय। इसी भाँति से छः हाथ तथा आठ हाथ वाले कुण्डों का भी अभिप्राय समझना चाहिये।

उपपत्ति—उपरिलिखित बात को इस प्रकार समझें। एक समचतुरस्र काष्ठ खण्ड इस प्रकार का लें, जिसका ऊपर तथा नीचे का छोर (सिरा) एक अङ्गुल चौड़ा हो तथा उसकी ऊपर से नीचे तक की लम्बाई (ऊँचाई) एक हाथ = चौबीस अङ्गुल हो। अब यदि ऐसे काष्ठखण्डों को एक-दूसरे से सटाकर रखा जाय तब ऐसे २४×२४ = ५७६ काष्ठखण्ड एक हाथ लम्बे, एक हाथ चौड़े तथा एक हाथ गहरे कुण्ड में समा जायेंगे। इसी को ५७६ फल अर्थात् क्षेत्रफल कहते हैं। यही कारण

है कि एक हाथ प्रमाण वाले कुण्ड का फल ५७६ ही निर्धारित किया गया है। एक हाथ में चौबीस अङ्गुल होते हैं। चौबीस का वर्ग २४×२४ = ५७६ होता है।

अब जो दो हाथ के आयाम का कुण्ड होता है, उसमें एक हाथ का चौगुणा हविर्द्रव्य समा जाता है। क्योंकि ऐसे दो हाथ लम्बे तथा दो हाथ चौड़े कुण्ड में एक हाथ के तुल्य चार खण्ड होंगे; अत: उसका फल एक हाथ के फल से चतुर्गुणित होगा अर्थात् ५७६×४ = २३०४ होगा। इसी कारण इस श्लोक में एक हाथ के कुण्ड के मूल सूत्र को चतुर्गुणित करने को कहा है अर्थात् चतुर्हस्तात्मक कुण्ड के निर्माण के लिये एक हाथ के चौबीस अङ्गुल सूत्र को २४×२ द्विगुणित अर्थात् अड़तालीस अङ्गुल अर्थात् दो हाथ का लेना चाहिये। इस प्रकार दो हाथ लम्बे तथा दो हाथ चौड़े (और एक हाथ गहरे) कुण्ड को चार हाथ का कुण्ड कहा जायेगा; क्योंकि उसमें एक हाथ वाले चार भाग होंगे।

दो हाथ		
दो हाथ	५७६	५७६
दो हाथ	५७६	५७६

दो हाथ

चतुर्हस्तात्मक कुण्ड (२ हाथ × २ हाथ × १ हाथ)

(इस चित्र में यह भली-भाँति स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार से दो हाथ लम्बा तथा दो हाथ चौड़ा अर्थात् चार वर्गहाथ का तथा एक हाथ गहरा कुण्ड चार हाथ के तुल्य हविर्द्रव्य के योग्य हो जाता है।)

षड्हस्त कुण्ड हेतु उपपत्ति—अब छ: हाथ के कुण्ड का विचार करते हैं, क्योंकि अभी हम देख चुके हैं कि चार हाथ का कुण्ड बनाने के लिये अंशु (मापसूत्र) की लम्बाई ४८ अङ्गुल होती है, जिसमें उसी का चतुर्थांश (४८ का $\frac{१}{४} = \frac{४८}{४}$ = १२) बारह अङ्गुल हुआ, इसे उसी में जोड़ा तो ४८+१२ = ६० अङ्गुल हुआ। अब इसमें उक्त बारह अङ्गुल का दशमांश ($\frac{१२}{१०}$ = एक अङ्गुल, एक यव, चार यूका) अर्थात् १.१.४

को साठ अङ्गुल में घटा दिया तो अट्ठावन अङ्गुल, छः यव तथा चार यूका (५८.६.४) होता है, यही सूत्र छः अङ्गुल की माप के लिये प्रयुक्त होना चाहिये।

द्विहस्तकुण्ड सूत्र हेतु उपपत्ति—एक हाथ के कुण्ड के लिये पाँच सौ छिहत्तर अङ्गुल (५७६) का अवकाश होता है। इसे द्विगुणित करने पर ग्यारह सौ बावन (११५२) अङ्गुल हुए। अब चौबीस अङ्गुल का सूत्र एक हाथ के लिये अपेक्षित है तो दो हाथ कुण्ड हेतु उस चौबीस अङ्गुल में उसका त्र्यंश (२४ का $\frac{१}{३} = \frac{२४}{३} = ८$) आठ अङ्गुल और जोड़ना चाहिये तब यह योग बत्तीस (३२) अङ्गुल होगा। फिर इस बत्तीस अङ्गुल में उस त्र्यंश का चतुर्थांश (८ का $\frac{१}{४} = \frac{८}{४} = २$) दो अङ्गुल और जोड़ना चाहिये; तब ३२+२=३४ (चौंतीस) अङ्गुल हुआ। इतना ही नहीं; इस चौंतीस अङ्गुल में पूर्वोक्त दो अङ्गुल का चौंतीसवाँ भाग ($\frac{२}{३४}$) जो कि स्थूल मान से लगभग चार यूका होता है, उसे चौंतीस अङ्गुल में घटा देने से तैंतीस अङ्गुल, सात यव तथा चार यूका (३३.७.४) यह दो हाथ के कुण्ड सूत्र का मान होता है।

अष्टहस्तात्मक कुण्ड हेतु सूत्र मान—दो हाथ के कुण्डसूत्र का मान द्विगुणित करने पर ३३.७.४×२ = सड़सठ अङ्गुल, सात यव (६७.७.०) इतना सूत्र आठ हाथ वाले कुण्ड की माप हेतु ग्रहण करें। आठ हाथ के कुण्ड का क्षेत्रफल चार सहस्र छः सौ आठ (४६०८) होता है। यह दो हाथ के कुण्ड से चौगुना अथवा चार हाथ के कुण्ड से दुगुना होता है।

कुण्डरचनोपयोगी परिभाषा—अब श्लोक के उत्तरार्द्ध में कुण्डरचना में उपयोगी परिभाषा समझाई गयी है।

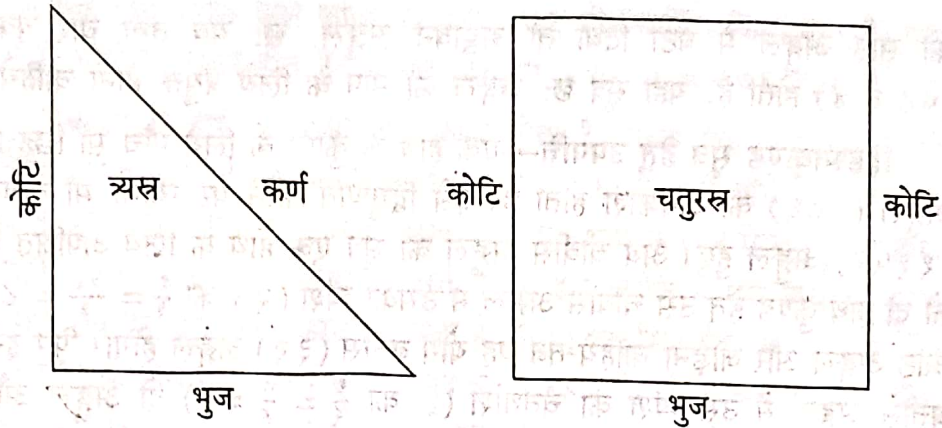
पूर्वांशु—प्राक्सूत्र को ही पूर्वांशु कहते हैं। यही पूर्व दिक्सूत्र है।

उत्तरांशु—यही उदक्सूत्र कहलाता है।

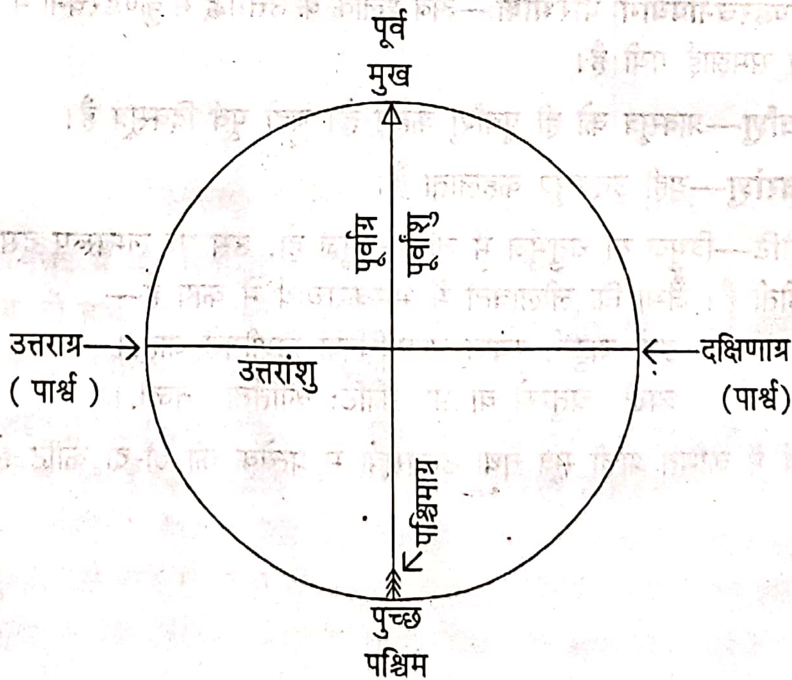
कोटि—त्रिभुज या चतुर्भुज में जो इष्ट भुज हो, उस पर लम्बरूप दूसरी भुजा कोटि होती है। जैसा कि लीलावती में भास्कराचार्य ने कहा है—

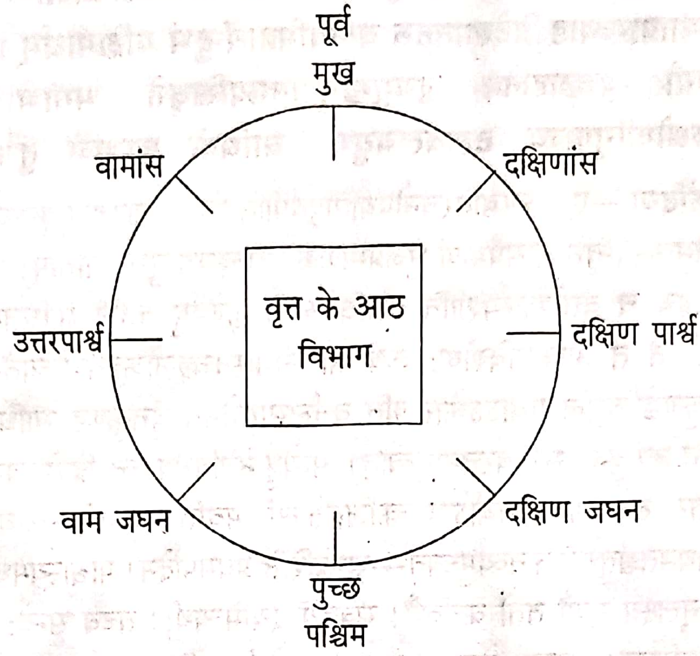
इष्टो बाहुर्यः स्यात् तत्स्पर्धिन्यां दिशीतरो बाहुः।
त्र्यस्रे चतुरस्रे वा सा कोटिः कीर्तिता तज्ज्ञैः।।

पूर्व में कथित प्राची सूत्र तथा उदक्सूत्रों में प्रत्येक की दो-दो कोटि होती है।



अग्र चतुष्टय—दोनों सूत्रों के चार अग्र होते हैं। वरुण दिक् (पश्चिम दिशा) से प्रारम्भ कर चारो दिशाओं की चार संज्ञायें होती हैं। १. प्राक्सूत्र का पश्चिमाग्र पुच्छ-संज्ञक है। २. उदक्सूत्र का उत्तराग्र पार्श्वसंज्ञक है। ३. प्राक्सूत्र का पूर्वाग्र आस्य (मुख) कहलाता है। ४. उदक्सूत्र का दक्षिणाग्र भी पार्श्व कहलाता है। चारो अग्र वृत्त की रेखा का स्पर्श करते हैं। सूत्रद्वय के अनुसार वृत्तनिर्माण करने से पार्श्व तथा मुख के मध्य अंस होते हैं। दक्षिण पार्श्व तथा मुख के मध्य दक्षिणांस तथा वाम पार्श्व एवं मुख के मध्य वामांस होता है। उत्तर पार्श्व तथा मुख के मध्य उत्तरांस होता है। इसी प्रकार दक्षिण पार्श्व तथा पुच्छ के मध्य दक्षिण जघन एवं उत्तर पार्श्व एवं पुच्छ के मध्य उत्तरी जघन होता है।।४।।





(विविध माप के कुण्डों का सूक्ष्म सूत्रमान-प्रदर्शक तालिका)

एक हस्तात्मक	द्वि हस्तात्मक	चतु-र्हस्तात्मक	षड्-हस्तात्मक	अष्ट हस्तात्मक	कुण्डमाप
२४	३३	४८	५८	६७	अङ्गुल
०	७	०	६	७	यव
०	४	०	२	०	यूका
०	४	०	३	३	लिक्षा
०	३	०	२	५	बालाग्र
०	५	०	६	६	रथरेणु
०	४	०	०	०	त्रसरेणु
५७६	११५२	२३०४	३४५६	४६०८	क्षेत्रफल

सन्धेः पार्श्वास्यमध्यावनुः कोटयोऽब्ध्यस्त्रकोणा-
स्तस्मात्प्राग्ज्याङ्घ्रिदेशात्कुरु वलयमिहार्धेन्दुभं पश्चिमार्धम् ।
श्रोण्यौ पुच्छाद्दलेन द्वयमुखगुणतस्त्र्यस्त्रिवृत्ते भगाभे
पुच्छश्रोणीगुणज्यं दलवलययुगं चाधिकं षड्भुजे तु ॥५॥

कुण्डार्कोदया—एवं कुण्डविरचनोपयोगिपूर्वपीठिकोक्ता। कुण्डञ्च वृत्ताब्जाद्याकार-भेदेन दशविधमुक्तम्। वृत्तव्यासप्रमाणं भुजप्रमाणञ्च तत्तत्कुण्डानुसारेणोक्तम्। प्राक्सूत्राग्र-द्वयमुदक्सूत्राग्रद्वयं च वृत्तरेखास्पर्शीति दशविधेष्वपि कुण्डेषु वर्तुलं साधितम्। इदानीं तत्र तत्र वर्तुले ते त आकारविशेषाः कथं साधनीयास्तच्छ्लोकत्रयेणोच्यते—

तत्र वृत्तकुण्डे वर्तुल एवाऽऽकार इति वर्तुलसाधनेनैव वृत्तकुण्डं साधितं भवति; वर्तुलानुसारेणैव तत्र कुण्डस्य विरचनीयत्वात्। अन्येषु नवविधेषु तत्त-द्विशेषाकारप्रापणाय वर्तुलसाधनोत्तरं तत्र कर्तव्यतयाऽन्यत्किञ्चिद्वक्तव्यं भवति। तत्रोक्ति-लाघवानुरोधेन क्रममुत्सृज्य प्रथमतश्चतुरस्रे कर्तव्यमुच्यते—**सन्धेरिति** प्रथमपादेन। पार्श्वास्यमध्यौ द्वावंसौ प्रागुक्तौ। तावनुलक्ष्य गुणौ ततो कर्तव्यौ। सूत्रद्वयं देयमित्यर्थः। तच्च सन्धेः प्राक्सूत्रो-दक्सूत्रयोर्यः सन्धिस्तमनुसृत्य देयम्। प्रागुदक्सूत्रयोर्यः सन्धिः स एवास्य सूत्रद्वयस्य सन्धिर्यथा भवेत्तथा सूत्रद्वयं देयम्। सूत्रद्वयस्य विस्तारश्च न वर्तुलाद्बहिः; प्रमाणाभावात्। तथा च दक्षिणांसमारभ्योत्तरजघनपर्यन्तमेकं सूत्रम्। अपरञ्चोत्तरांसमारभ्य दक्षिणजघन-पर्यन्तमर्थादेव सिध्यति। अस्य सूत्रद्वयस्य याश्चतस्रः कोटयोऽग्रचतुष्टयं तदेवाब्ध्यस्रस्य चतुरस्रकुण्डस्य कोणाः कोणचतुष्टयं भवति। तथा चोत्तरांसाद्दक्षिणांसपर्यन्तमेको भुजः। दक्षिणांसाद्दक्षिणजघनपर्यन्तं द्वितीयः। दक्षिणजघनादारभ्योत्तरजघनपर्यन्तस्तृतीयः। उत्तर-जघनादारभ्योत्तरांसपर्यन्तश्चतुर्थ इति चतुरस्रकुण्डसिद्धिः।

नन्वत्र पार्श्वास्यसन्ध्यौ प्रसाध्य तदनुसारेण सूत्रद्वयं च प्रसाध्य तादृशसूत्रद्वयाग्र-चतुष्टयानुसारेण भुजचतुष्टयं साधनीयमित्युक्तम्। तत्र माऽस्तु मध्ये सूत्रद्वयकल्पना। पार्श्वास्थमध्याविव पार्श्वपुच्छमध्यौ प्रसाध्य तदनुसारेण भुजचतुष्टयसिद्धेरिति चेत्सत्यम्। स्याद्भुजचतुष्टयसिद्धिः किन्तु भुजसाम्यं नियमेन न सिध्येत्। कदाचिदीषद्वैषम्यं स्यात्। प्रथमतः पार्श्वास्थयोर्मध्यो यः सामान्यतः प्रकल्पितो भवति स स्थूलः, न तु सूक्ष्मः। मध्याद्यदास्यपर्यन्तमन्तरं यच्च मध्यात्पार्श्वपर्यन्तमन्तरं तयोरन्तरयोर्लिक्षियाऽपि वैषम्यं यत्र न जायत एतादृशो मध्यः सूक्ष्मः। सूक्ष्म एव चात्र भुजसाम्यसिद्ध्यर्थमपेक्षितो भवति। मध्यसन्धिमनुलक्ष्य प्रागुदक्सूत्रयोः समान्तरेणोक्तसूत्रद्वयसाधने तु सूत्राग्रेण सूक्ष्मो मध्यः संलक्षितो भवति। प्राची दिक् च सामीचीन्येन साधिता भवति।

अथार्धचन्द्रकुण्डे कर्तव्यमुच्यते—**तस्मादिति** द्वितीयपादेन। अर्धचन्द्रे प्रकृति-वृत्तव्याससूत्रप्रमाणं पूर्वमुक्तम् (३८.२.३)। तादृशसूत्रद्वयसन्धिस्तस्मादित्यनेन निर्दिश्यते।

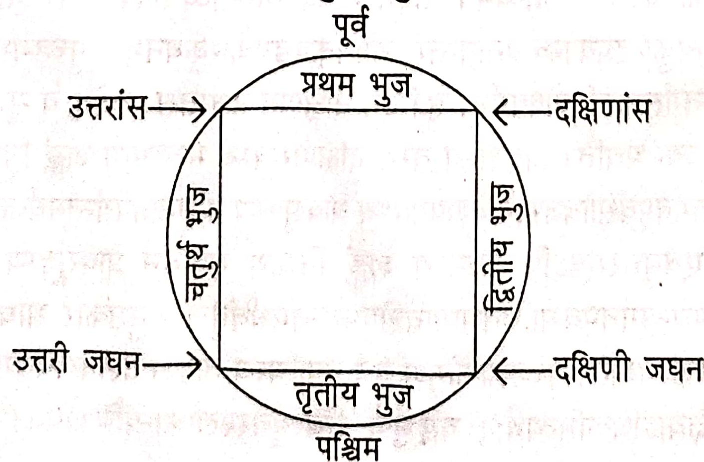
तादृशसूत्रद्वयसन्धेः प्राक्प्राच्यां दिशि ज्याङ्घ्रिदेशात्सूत्रचतुर्थांशप्रदेशाद्वलयं कुरु। सूत्रचतुर्थांशः पूर्वस्यां दिशि यत्र भागे भवति तत्र शङ्कुं निधाय व्याससूत्रार्धप्रमितेन (१९.१.१.४) सूत्रान्तरेण वर्तुलं कार्यम्। तादृशवर्तुलस्य यत्पश्चिमार्धं तदर्धेन्दुभमर्धचन्द्रकुण्डं भवति। ननु किमर्थमिदं वर्तुलान्तरं साधितम्। प्रकृतिवृत्तस्यास्य वर्तुलस्य च परिमाणं सममेव। तथा च प्रकृतिवृत्तस्य पश्चिमार्धमेवार्धचन्द्रकुण्डमित्युक्त्यैव निर्वाह इति चेत्सत्यम्। सूत्रद्वयसन्धिः कुण्डमध्ये यथा स्यादित्यभिप्रायेण वर्तुलान्तरसाधनात्। अथ त्र्यस्रे कुण्डे कर्तव्यं दर्शयति—**श्रोण्यौ पुच्छाद्दलेन द्वयमुखगुणतस्त्र्यस्त्रिवृत्ते** इत्यनेन। त्र्यस्त्रिवृत्ते त्रिकोणकुण्डे। त्र्यस्रे वलयव्याससूत्रप्रमाणं प्रागुक्तम् (४२.१)। तत्र वलये पुच्छात्पुच्छभागमध्याद्दलेन व्याससूत्रार्धप्रमितेन सूत्रान्तरेण वर्तुलान्तरं कृत्वा श्रोण्यौ श्रोणिगतौ द्वौ भागविशेषौ साधनीयौ। एको दक्षिणश्रोणिगतोऽपर उत्तरश्रोणिगतः। तादृशभागविशेषद्वयान्मुखमध्यभागपर्यन्तं सूत्रद्वयं देयम्। उभयतः श्रोणिभागविशेषस्पर्शि च तृतीयं सूत्रमर्थादेव सिद्धमिति तादृशसूत्ररूपभुजत्रयघटितं त्रिकोणं कुण्डं भवति। न च पुच्छपार्श्वमध्यभागस्य श्रोणिसंज्ञा पूर्वमुक्तैवानुजघनयुगं मध्यतः पुच्छकुक्ष्योरित्यनेन। तथा च किमर्थं पुनरत्र श्रोणिसाधनमिति वाच्यम्। श्रोणीशब्देन श्रोणीगतभागविशेषोपलक्षणात्। तादृशभागविशेषसाधनं च भुजावधिद्योतनायाऽऽवश्यकम्। ननु श्रोणितो मुखपर्यन्तं सूत्रं देयमित्येवोच्यतां किमर्थं तदन्तर्गतभागविशेषसाधनमिति चेदुच्यते। श्रोणितो मुखपर्यन्तं सूत्रं देयमित्युक्ते किं श्रोणिमध्यादथवा श्रोण्यग्रात्। आद्ये भुजसाम्यं न स्यात्। त्र्यस्रकुण्डे ह्येकः पश्चिमतो भुजः पार्श्वद्वये च भुजद्वयमिति भुजत्रयं समं साधनीयम्। तत्र पार्श्वभुजात्पश्चिमभुजस्तृतीयांशेन न्यूनः स्यात्। द्वितीयेऽपि यदि पश्चिमाग्रं गृह्यते, तर्हि ततोऽपि न्यूनः स्यात्। यदि पूर्वाग्रं गृह्यते तर्हि पार्श्वभुजापेक्षयाऽधिकः पश्चिमभुजः स्यात्। तथा च भुजत्रयसाम्याय तथोक्तिः। अथ योनिकुण्डे कर्तव्यमाह—**भगाभे पुच्छश्रोणीगुणज्यं दलवलययुगं चाधिकमि**त्यनेन। भगाभे योनिकुण्डे। अत्र त्र्यस्रे वलयव्याससूत्रप्रमाणं प्रागुक्तम् (३०.२)। तादृशसूत्रानुसारिवर्तुले त्र्यस्रकुण्डवच्छ्रोणिद्वयान्तर्गतभागविशेषद्वयसाधनं त्र्यस्रोत्पादनं च कर्तव्यमेव। तदुत्तरमधिकं यत्कर्तव्यं तदत्रोच्यते। एतदुक्तिलाघवानुरोधेनैव त्र्यस्रकुण्डप्रकारकथनानन्तरं योनिकुण्डप्रकारकथनम्। पुच्छमध्यभागात्पूर्वसाधितश्रोण्यन्तर्गतभागविशेषपर्यन्तं सूत्रं देयं दक्षिणत उत्तरतश्च। तदेव च सूत्रमर्धवर्तुलस्य धनुराकारस्य ज्या भवति। तादृशस्य तस्य दक्षिणसूत्रस्य मध्यभागे शङ्कुं निधाय सूत्रार्धेन दक्षिणश्रोण्यन्तर्गतपूर्वसाधितभागविशेषमारभ्य प्राक्सूत्रस्य पश्चिमाग्रपर्यन्तमर्धवर्तुलं धनुराकारं साधनीयम्। एवमुत्तरसूत्रेऽपि सूत्रमध्ये शङ्कुं निधाय सूत्रार्धेन प्राक्सूत्रस्य पश्चिमभागमारभ्योत्तरश्रोण्यन्तर्गतपूर्वसाधितभागविशेषपर्यन्तमर्धवर्तुलं धनुराकारं साधनीयम्। ततो योन्याकारं कुण्डं भवति। पुच्छश्रोणीगुण एव ज्या यस्य तादृशं दलवलययुगमर्धवर्तुलद्वयं त्र्यस्रकुण्डापेक्षयाऽधिकमित्यर्थः। **षड्भुजे त्वि**त्युत्तरश्लोकान्वयि।।५।।

अर्कप्रभा—पूर्ववर्त्ती श्लोकों में कुण्डरचना में उपयोगी पूर्वपीठिका वर्णित हुई है। कुण्डों के दश भेदों में वृत्ताब्जादि भेद कथन किये गये हैं। कुण्डानुसार उन कुण्डों का वृत्तव्यास-प्रमाण तथा भुजप्रमाण कहा जा चुका है। दशों प्रकार के कुण्डों में प्राक्सूत्राग्रद्वय तथा उदक्सूत्राग्रद्वय, जो कि वृत्तरेखा-स्पर्शी होते हैं, अत: दशों प्रकार के कुण्डों में वर्तुल का साधन करना चाहिये।

अब अलग-अलग आकार वाले कुण्डों का आकार वृत्त-निर्माण से कैसे सम्भव होता है? आकार-विशेष कैसे प्रदान किया जाता है? इसे अब आगे के तीन श्लोकों में बताया जायेगा।

१. वृत्तकुण्ड—वृत्तकुण्ड का आकार वर्तुल की भाँति होने से मात्र वर्तुल का निर्माण करने के उपरान्त कुण्ड-निर्माण सरलतापूर्वक हो जाता है, अन्य नौ प्रकार के कुण्डों में वृत्तरचना के अनन्तर उसके बनाने की विधि में विशेष कथन है। सरलतापूर्वक कुण्डनिर्माण समझाने के लिये पूर्व में कुण्डों के निर्माण का जो क्रम बताया गया है, उसे छोड़कर प्रथम चतुरस्र कुण्ड का निर्माण कहते हैं—

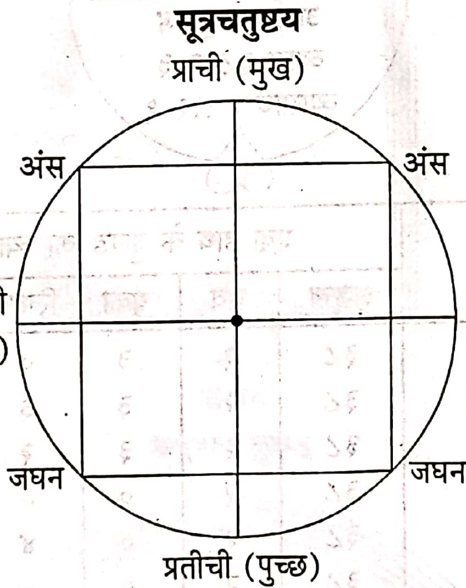
२. चतुरस्र कुण्ड—पूर्ववर्ती श्लोक में दो अंसों तथा दो जघनों का विवरण दिया जा चुका है। उन दोनों अंसों की दूरी के तुल्य सूत्र ग्रहण कर उस वृत्त में प्रथम एक अंस से दूसरे अंस तक सूत्र देकर फिर एक जघन से दूसरे जघनपर्यन्त सूत्र दे। फिर उसी सूत्र से दोनों पार्श्वों में भी सूत्र दे। ऐसा करने से वृत्त के भीतर एक समचतुरस्र का निर्माण हो जायेगा। दोनों सूत्रों के चार अग्र एवं चार कोटि होती हैं तथा चतुर्भुज में चार समकोण (प्रत्येक नब्बे अंश का) होते हैं। तथैव चार कोण तथा चार कोटि भी होती है। चतुर्भुज में चार त्रिकोण या त्रिभुज होते हैं। एक भुजा उत्तरांस से दक्षिणांस तक होती है। दक्षिणांस से दक्षिण जघनपर्यन्त दूसरी भुजा होती है। दक्षिणी जघन से उत्तरी जघन तक तीसरी भुजा तथा उत्तरी जघन से उत्तरांसपर्यन्त चौथी भुजा होती है। इस प्रकार से चतुरस्र कुण्ड निर्मित होता है।

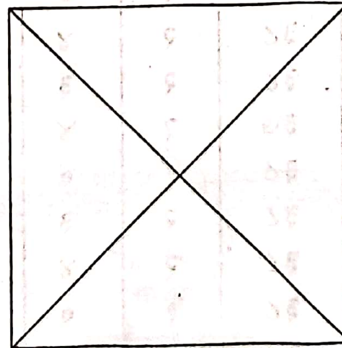


यहाँ पर स्पष्ट रूप से उत्तर-दक्षिण की सन्धियों को जोड़कर उनसे दोनों सूत्रों (प्राक्सूत्र तथा उदक्सूत्र) का प्रसाधन कर उन सूत्रों के अग्र चतुष्टय से चारो भुजाओं का साधन करना चाहिये। यहाँ मध्य से दो सूत्रों की कल्पना नहीं है; अपितु पार्श्वस्थ मध्यों की भाँति ही पार्श्व तथा पुच्छ के मध्य को जानकर तदनुसार चारो भुजाओं का साधन होता है। इससे भुजचतुष्टय की सिद्धि तो होती है, परन्तु नियमतः भुजसाम्य सिद्ध नहीं होता। कुछ विषमता रहती है या हो सकती है; क्योंकि एक तो पार्श्व तथा आस्य (मुख) के मध्य जो अन्तर होता है, वह स्थूल होता है; सूक्ष्म नहीं। मध्य से मुख के मध्य जो अन्तर होता है, वह यदि लिक्षा के बराबर भी न्यूनाधिक न हो तभी विषमता न होकर समता सम्भव है। यहाँ पर सूक्ष्म ही भुजसाम्य के लिये अपेक्षित होता है।

मध्य की सन्धि (वृत्तकेन्द्र की सन्धि) को ध्यान में रखकर प्राक्सूत्र तथा उदक्सूत्र इन दोनों के समानान्तर उक्त दोनों सूत्रों के साधन में सूत्राग्र से सूक्ष्म मध्य का ज्ञान होता है और प्राची का साधन भी समीचीन रूप में हो जाता है।

सूत्रचतुष्टय

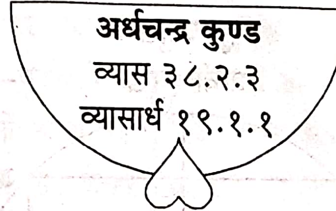




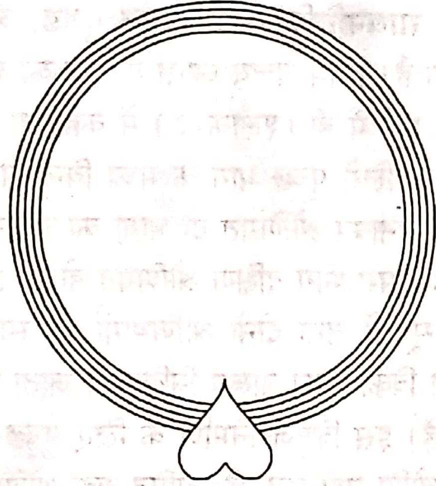
चतुर्भुज के चार त्रिभुज

३. अर्द्धचन्द्र कुण्ड-साधनविधि—अर्द्धचन्द्र कुण्ड में प्रकृत वृत्तव्याससूत्र का प्रमाण पूर्व में अड़तीस अङ्गुल, दो यव तथा तीन यूका (३८.२.३) कथित है। इतने माप का सूत्र लेकर ऐसे दो सूत्रों की सन्धि में पूर्व तथा पश्चिम ज्याङ्घ्रि प्रदेश (ज्या स्पर्शबिन्दु) से सूत्र लेकर उसके चतुर्थांश प्रदेश से वलय (वृत्त) का निर्माण करे। पूर्व दिशा में सूत्र का चतुर्थांश जिस स्थान पर निर्धारित हो, वहाँ शङ्कु गाड़कर व्यास सूत्र के आधे से (१९.१.१.४) वर्तुल बनाना चाहिये। इस प्रकार के वलय का जो पश्चिमार्ध है, उससे अर्द्ध चन्द्राकार कुण्ड बन जाता है। प्रकृत वृत्त तथा इस वृत्त का परिमाण तुल्य ही होता है। प्रकृत वृत्त का जो पश्चिमार्द्ध है, वही अर्द्धचन्द्र कुण्ड होता है; यह सत्य है। वर्तुलान्तर-साधन से मध्य में सूत्रद्वय की सन्धि का ज्ञान हो जाता है।

विभिन्न कुण्ड-निर्माण से सम्बन्धित ग्रन्थों में अर्द्धचन्द्र कुण्ड के वृत्तव्यास का मान अलग-अलग है; अत: कुण्डार्क के साथ अन्य ग्रन्थों में दिये मान को आगे की तालिका में दिया जा रहा है। मानों में यह अन्तर अल्प ही है।

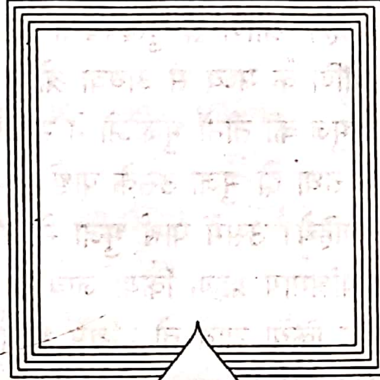


ग्रन्थ	एक हाथ के कुण्ड का व्यास					क्षेत्रफल (स्थूल)
	अङ्गुल	यव	यूका	लिक्षा	बालाग्र	
१. कुण्डार्क	३८	२	३	०	०	५७६
२. कुण्डमण्डपसिद्धि	३८	२	३	३	६	५७६
३. कुण्डमार्तण्ड	३८	२	३	२	०	५७६
४. कुण्डदर्पण	३८	२	०	०	०	५७४
५. कुण्डकौमुदी	३८	२	०	४	०	५७५
६. कुण्डमरीचिका	३८	२	०	०	०	५७४
७. कुण्डप्रदीप	३८	२	४	०	०	५७६
८. कुण्डरत्नाकर	३८	२	३	१	०	५७६
९. मतान्तर से	३७	२	४	०	०	५४६
१०. कुण्डार्णव	३८	१	०	०	०	५७१
११. कुण्डोद्योत	३८	२	३	०	०	५७६
१२. कुण्डतत्त्व-प्रदीप	३८	२	४	०	०	५७६
१३. कुण्डराम-वाजपेयी	३८	१	०	०	०	५७१
१४. कुण्डोदधि	३८	२	४	०	०	५७६



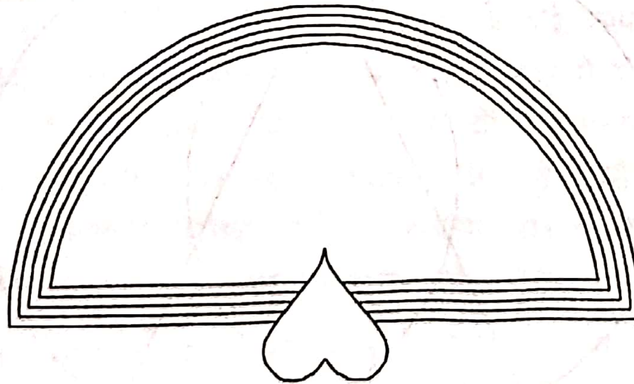
पश्चिम

वृत्त कुण्ड



पश्चिम

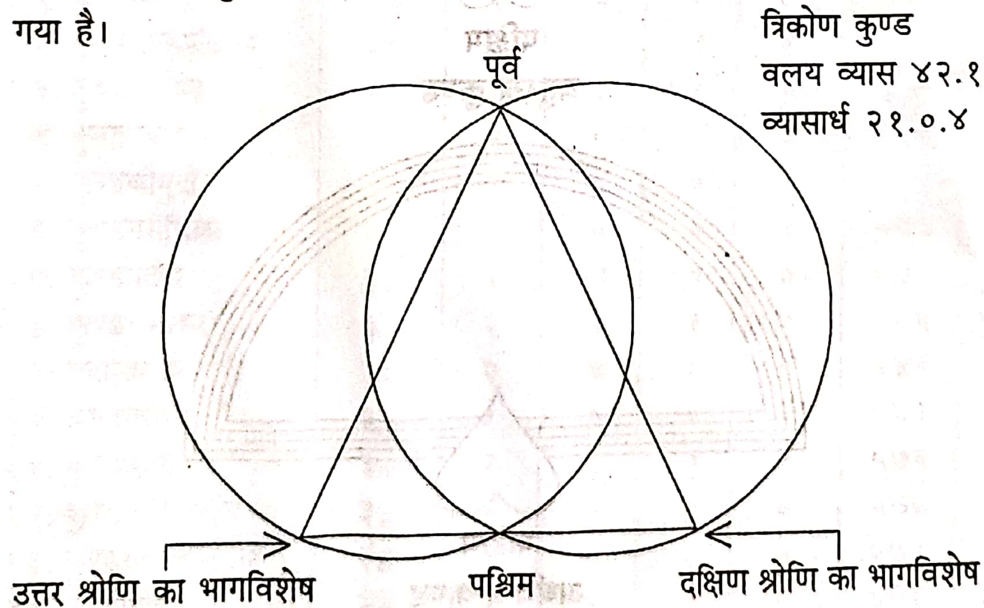
चतुरस्र कुण्ड



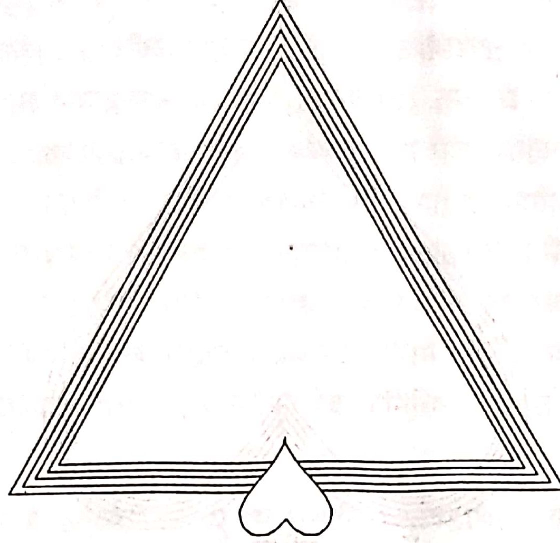
पश्चिम

अर्धचन्द्र कुण्ड

४. त्रिकोणकुण्ड साधनविधि—इसे त्रिभुज कुण्ड, त्र्यस्र कुण्ड तथा त्र्यस्रि वृत्त कुण्ड भी कहा जाता है। इसमें वलय व्यास के सूत्र का प्रमाण बयालीस अङ्गुल तथा एक यव (४२.१) पूर्व में ही (श्लोक-३) में कहा जा चुका है। त्रिकोणाकृति कुण्ड का निर्माण करने के लिये पुच्छ भाग के मध्य बिन्दु से व्यास सूत्रार्ध की माप वाले सूत्र से दूसरा वर्तुल बनाकर श्रोणिगत दो भागों का साधन करे। इस प्रकार एक भाग उत्तर श्रोणिगत तथा दूसरा भाग दक्षिण श्रोणिगत होगा। इन दोनों भागों से मुख के मध्य भागपर्यन्त दो सूत्र दे तथा दोनों श्रोणिभागों का स्पर्श करने वाला तीसरा सूत्र भी दे। इस प्रकार से त्रिकोण का प्रारूप निर्मित हो जाता है। इसमें तीन भुजाओं वाला त्रिभुज बन जाता है। इस त्रिभुज-निर्माण के लिए पुच्छ के मध्य भाग से पार्श्व के मध्य वाले भाग को श्रोणि नहीं कहा है; अपितु यहाँ श्रोणिगत भागविशेष का ही कथन 'श्रोणि' शब्द से किया गया है। उस भागविशेष के साधन के लिये भुजबाधा का द्योतन आवश्यक है। जब श्रोणि से मुखपर्यन्त सूत्रसाधन कहा है, तब श्रोणि भाग-विशेष का साधन क्यों कहा है? श्रोणि से मुखपर्यन्त सूत्र दे— ऐसा कथन करने में यह प्रश्न उठता है कि श्रोणि के मध्य से अथवा श्रोणि के अग्र से? यदि श्रोणि के आद्य से दिया जाय तो त्रिभुज की तीनों भुजाओं में समता नहीं होगी। त्र्यस्र कुण्ड में एक भुजा पश्चिम दिशा में तथा दो भुजा उसके पार्श्व में— इस प्रकार तीन समान भुजाओं का साधन करना चाहिये। उसमें पार्श्व भुजा से पश्चिम भुज तृतीयांश न्यून होगा। अब यदि श्रोणि का पश्चिमाग्र ग्रहण किया जाय तो उससे भी न्यून भुजा हो जायेगी तथा पूर्वाग्र का ग्रहण किया जाय तो पश्चिम भुजा पार्श्वभुजों से अधिक हो जायेगी। अतः त्रिभुज साम्य के लिये ही श्रोणि के भागविशेष का साधन करना बताया गया है।



निर्मित त्रिकोण कुण्ड

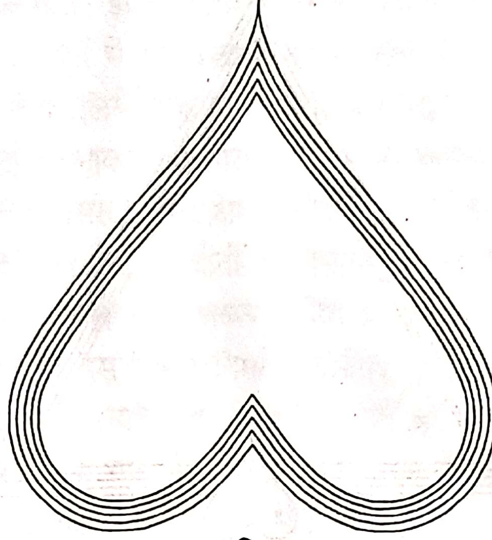


पश्चिम

५. योनि कुण्ड की कर्तव्यता—योनिकुण्ड में त्र्यस्र का निर्माण होता है। योनि कुण्ड का वलय व्यास पूर्व में तीस अङ्गुल तथा दो यव कहा गया है। अत: ३०.२ के अर्द्ध १५.१ से निर्मित वर्तुल में त्र्यस्र कुण्ड की भाँति दोनों श्रोणियों के अन्तर्गत दो भागों का साधन कर सर्वप्रथम त्रिभुज बना लेना चाहिये (जो कि पूर्व की भाँति सम त्रिबाहु हो)। इसके पश्चात् फिर जो करना है, वह आगे बताया जा रहा है। निर्माण में सरलता के लिये ही त्रिकोण कुण्ड के निर्माणोपरान्त योनिकुण्ड का निर्माण बताया जा रहा है। पुच्छमध्य के भाग से पूर्वसाधित श्रोण्यन्तर्गत भागविशेषपर्यन्त सूत्र को उत्तर तथा दक्षिण दोनों तरफ से दे। वह सूत्र अर्द्धवर्तुल की धनुराकार ज्या होगी। उसी प्रकार के दक्षिण सूत्र के मध्य भाग में शङ्कु गाड़कर सूत्रार्द्ध से श्रोण्यन्तर्गत पूर्व साधित भागविशेष से आरम्भ कर प्राक्सूत्र के पश्चिमाग्रपर्यन्त धनुषाकार अर्द्धवर्तुल बनावे। इसी प्रकार उत्तर सूत्र में भी सूत्र के मध्य में शङ्कु को गाड़कर सूत्रार्द्ध से प्राक्सूत्र के पश्चिम भाग से आरम्भ कर उत्तर श्रोणि के अन्तर्गत भागविशेषपर्यन्त धनुराकार अर्द्धवर्तुल बनावे तो योन्याकार हो जाता है। इसी को खनन कर कुण्ड का रूप बन जाता है, जिसकी पुच्छ तथा श्रोणीगत सूत्र ही ज्या होती है। इस प्रकार के अर्द्धवर्तुलद्वय त्रिकोण कुण्ड की अपेक्षा योनि कुण्ड में अधिक होते हैं।

इस प्रकार सर्वप्रथम दो वर्तुलों का साधन कर त्रिकोण बनाया जाता है। तदुपरान्त दो अर्द्धवर्तुलों के द्वारा उस त्रिकोण के आकार को भगाकार (योन्याकार) स्वरूप प्रदान कर देने से योनि कुण्ड का स्वरूप सिद्ध हो जाता है।।५।।

योनिकुण्डम्



पश्चिम

श्रोण्यंसौ पार्श्वतोऽर्धाद्युगभुजयुगलं दिग्विदिक्कोणकं स्याद्
बाह्यत्र्यस्राष्टकोनं त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुलेऽष्टास्त्रि कुण्डम्।
सप्तास्त्रे दोस्त्रिदोर्दलमिभरसदृग्भागयुग्वक्त्रतो ज्याः
पञ्चास्त्रे द्विघ्नपार्श्वाननततिविवरं खाभ्रवेदांशयुक्तम् ॥६॥

कुण्डार्कोदया—षड्भुजे तु **श्रोण्यंसौ पार्श्वतोऽर्धादि**त्यनेन षडस्रकुण्डे कर्तव्यं दर्शितम्। षडस्रे वलयव्याससूत्रप्रमाणं प्रागुक्तम् (२९.६)। उत्तरपार्श्वमध्ये शङ्कुं निधाय तत्र सूत्रार्द्धेन शङ्कोर्दक्षिणभागेऽर्धवर्तुलं कार्यम्। एतदर्धवर्तुलं च पार्श्वात्पूर्वतः पश्चिमतश्च प्रकृतिवर्तुलं स्पृशति स्पर्शस्थानद्वयं च क्रमेणांसत्वेन श्रोणित्वेन च कल्पनीयम्। एवं दक्षिणपार्श्वेऽपि पार्श्वमध्ये शङ्कुं निधाय तत्र सूत्रार्द्धेन शङ्कोरुत्तरतोऽर्धवर्तुलं कार्यम्। एतदप्यर्धवर्तुलं पार्श्वात्पूर्वतः पश्चिमतश्च प्रकृतिवर्तुलं स्पृशति। स्पर्शस्थानद्वयञ्च क्रमेणांसत्वेन श्रोणित्वेन च कल्पनीयम्। एवञ्चोत्तरतः पार्श्वमध्यस्थानमंसान्तर्गतविशेषस्थानं श्रोण्यन्तर्गतविशेषस्थानञ्चेति स्थानत्रयम्। दक्षिणतोऽप्येवं स्थानत्रयमिति मिलित्वा प्रकृतिवृत्ते षट् स्थानानि सम्पन्नानि। तत्र प्रत्येकस्थानात्स्वानन्तरस्थानपर्यन्तं सूत्रं देयम्। तथा च षट् सूत्राणि भवन्ति। त एव च षड् भुजा इत्येवं षडस्रं कुण्डं भवति।

अत्रार्द्धवर्तुलेन श्रोण्यन्तर्गतोंऽसान्तर्गतश्च यः स्थानविशेषः प्रकल्पितः स षण्णां भुजानां साम्यार्थम्। अन्यथा षड् भुजाः समाः न स्युः। उदाहरणार्थं किञ्चित्प्रकल्प्यते। अष्टचत्वारिंशदङ्गुलात्मके वृत्ते षड्भागाः समाः प्रत्येकमष्टाङ्गुलात्मका भवन्ति। मुखं पुच्छमंसद्वयं पार्श्वद्वयं श्रोणिद्वयं चेत्यष्टावयवाः प्रत्येकं षडङ्गुलात्मकाः। यदि च श्रोण्यंसयोरन्तर्गतः स्थानविशेषो न प्रकल्प्यते तर्हि पार्श्वमध्याच्छ्रोणीपर्यन्तो भागः श्रोणी-

मध्यपर्यन्तः श्रोण्यग्रपर्यन्तो वा स्यात्। आद्ये स भागः षडङ्गुल एव स्यात्। अन्त्ये पूर्वाग्रे गृह्यमाणे त्र्यङ्गुल एव स्यात्। पश्चिमाग्रे गृह्यमाणे नवाङ्गुलः स्यात्। न तु काऽप्यष्टाङ्गुलः। अष्टाङ्गुल एव चेष्यते। स्यादत्रविशेषे प्रकल्पिते तु स स्थानविशेषः श्रोण्यन्तर्गतपञ्चाङ्गुलान्ते भवति। श्रोण्यन्तर्गत एकाङ्गुलात्मको भागोऽवशिष्यते। तथा च पार्श्वगतमध्यात्पश्चिमतोऽङ्गुलत्रयं श्रोणीगताङ्गुलपञ्चकं चेत्यङ्गुलाष्टकात्मक इष्टो भागः समप्रमाणः सिद्धो भवति। यद्यपि मुखमध्यं पुच्छमध्यं वाऽऽरभ्याष्टाङ्गुलात्मकाः समाः षड्भागा भवेयुस्तथापि तथा नोक्तम्। तथा सति पुच्छमध्ये योनिस्थाने भुजद्वयसन्धिः स्यात्। स तु नेष्यते; नार्पयेत्कुण्डकोणेषु योनिमिति निषेधात्। यदि चांसमध्यं श्रोणिमध्यं वाऽरभ्य समाः षड्भागा अष्टाङ्गुलात्मकाः क्रियन्ते तर्हि यद्यपि भुजसन्धौ योनिर्न भवति तथाऽपि भुजमध्ये न भवति। पश्चिमभुजस्य मध्यभाग एव सर्वकुण्डेषु योनिरिष्यते। अतः पार्श्वमध्यमारभ्यात्र षड्भागा उक्ताः।

अथाष्टास्रकुण्डे कर्तव्यमाह—**युगभुजे**त्यादिना **कुण्डमि**त्यन्तेन। अष्टास्रे प्रकृतिवृत्तव्याससूत्रप्रमाणं सार्धाष्टाविंशत्यङ्गुलात्मकं प्रागुक्तम् (२८.४)। तत्र च साधारणपरिभाषया मुखांसपार्श्वश्रोणीपुच्छश्रोणीपार्श्वांससंज्ञाः क्रमेण भवन्ति। तत्रैकैको भागो यूकाचतुष्टयसहितार्धाङ्गुलत्रयात्मकः (३.४.४)। प्राक्सूत्रस्य यत्पूर्वाग्रं तस्य दक्षिणतोऽर्धभागः (१.६.२) उत्तरतश्च तथैव (१.६.२) मिलित्वा मुखं (३.४.४) भवति। तदनन्तरं क्रमेण तावन्त एवांसादयः सप्तभागाः कल्पनीयाः। तथा चैताः मुखादयोऽष्टौ संज्ञा वर्तुलान्तर्गतस्य यावतो भागस्य भवन्ति तावत एव भागस्याग्रद्वयमभिलक्ष्य सूत्रे दत्तेऽष्टौ भुजाः समा भवन्ति। न किञ्चिदधिकं तत्र कर्तव्यं भवति। एवं यद्यप्यष्टास्रं कुण्डं साधितं स्यात्तथाऽपि तत्र स्थूलदृष्ट्या भुजसाम्ये साधितेऽपि सूक्ष्मं साम्यं नियमेन न सिद्ध्येत्। कदाचिल्लिक्षया वैषम्यं स्यात्। इष्टं च सर्वत्रैव सूक्ष्मं भुजसाम्यं वर्तुलान्तर्गतप्रागुदगै-शान्याग्नेयीसूत्रानुरोधेन साधितेषु भुजेषु भवति। तथा च तथासाधनाय कर्तव्यविशेषोऽत्र प्रदर्शनीयः। किन्तु स कर्तव्यविशेषः प्रागुक्तव्याससूत्रप्रमाणा (२८.४) नुसारिवर्तुले न सम्भवति। अतोऽत्र व्याससूत्रस्य प्रमाणान्तरं दर्शयति—**त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुल** (३७.३) इति।

ननु कथमसम्भवः। सार्धाष्टाविंशत्यङ्गुलानुसारि (२८.४) वर्तुलेऽपि वर्तुलान्तःप्रागुदगैशान्याग्नेयीसूत्रचतुष्टयं दत्त्वैकस्य सूत्रस्याग्रद्वयमित्येवं चतुर्णां सूत्राणां यान्यष्टावग्राणि तत्रैकस्मादग्रात्स्वानन्तरापराग्रपर्यन्तमेको भुज इत्येवं समभुजाष्टसम्भव इति चेन्न। तथा सति योनिमध्ये भुजकोणपातप्रसङ्गात्। ननु त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुलानुसारिवर्तुलेऽपि तथा प्रसङ्गः स्यादिति चेन्मैवं वादीः। यानि तत्राष्टावान्तरसूत्राग्राणि न ते भुजकोणा भवन्ति। किन्त्वन्य एव। तथाहि—युगभुजा भुजचतुष्टयम्। तद्यथा चतुरस्रकुण्डे विदिक्कोणकं कृतं तथाऽत्रापि कर्तव्यम्। अपरं चात्र दिक्कोणमपि तादृशं भुजचतुष्टयमपरं कर्तव्यम्।

मध्यपर्यन्तः श्रोण्यग्रपर्यन्तो वा स्यात्। आद्ये स भागः षडङ्गुल एव स्यात्। अन्त्ये पूर्वाग्रे गृह्यमाणे त्र्यङ्गुल एव स्यात्। पश्चिमाग्रे गृह्यमाणे नवाङ्गुलः स्यात्। न तु काऽप्यष्टाङ्गुलः। अष्टाङ्गुल एव चेष्यते। स्यादत्रविशेषे प्रकल्पिते तु स स्थानविशेषः श्रोण्यन्तर्गतपञ्चाङ्गुलान्ते भवति। श्रोण्यन्तर्गत एकाङ्गुलात्मको भागोऽवशिष्यते। तथा च पार्श्वगतमध्यात्पश्चिमतोऽङ्गुलत्रयं श्रोणीगताङ्गुलपञ्चकं चेत्यङ्गुलाष्टकात्मक इष्टो भागः समप्रमाणः सिद्धो भवति। यद्यपि मुखमध्यं पुच्छमध्यं वाऽऽरभ्याष्टाङ्गुलात्मकाः समाः षड्भागा भवेयुस्तथापि तथा नोक्तम्। तथा सति पुच्छमध्ये योनिस्थाने भुजद्वयसन्धिः स्यात्। स तु नेष्यते; नार्पयेत्कुण्डकोणेषु योनिमिति निषेधात्। यदि चांसमध्यं श्रोणिमध्यं वाऽरभ्य समाः षड्भागा अष्टाङ्गुलात्मकाः क्रियन्ते तर्हि यद्यपि भुजसन्धौ योनिर्न भवति तथाऽपि भुजमध्ये न भवति। पश्चिमभुजस्य मध्यभाग एव सर्वकुण्डेषु योनिरिष्यते। अतः पार्श्वमध्यमारभ्यात्र षड्भागा उक्ताः।

अथाष्टास्रकुण्डे कर्तव्यमाह—**युगभुजे**त्यादिना **कुण्डमि**त्यन्तेन। अष्टास्रे प्रकृतिवृत्तव्याससूत्रप्रमाणं सार्धाष्टाविंशत्यङ्गुलात्मकं प्रागुक्तम् (२८.४)। तत्र च साधारणपरिभाषया मुखांसपार्श्वश्रोणीपुच्छश्रोणीपार्श्वांससंज्ञाः क्रमेण भवन्ति। तत्रैकैको भागो यूकाचतुष्टयसहितार्धाङ्गुलत्रयात्मकः (३.४.४)। प्राक्सूत्रस्य यत्पूर्वाग्रं तस्य दक्षिणतोऽर्धभागः (१.६.२) उत्तरतश्च तथैव (१.६.२) मिलित्वा मुखं (३.४.४) भवति। तदनन्तरं क्रमेण तावन्त एवांसादयः सप्तभागाः कल्पनीयाः। तथा चैताः मुखादयोऽष्टौ संज्ञा वर्तुलान्तर्गतस्य यावतो भागस्य भवन्ति तावत एव भागस्याग्रद्वयमभिलक्ष्य सूत्रे दत्तेऽष्टौ भुजाः समा भवन्ति। न किञ्चिदधिकं तत्र कर्तव्यं भवति। एवं यद्यप्यष्टास्रं कुण्डं साधितं स्यात्तथाऽपि तत्र स्थूलदृष्ट्या भुजसाम्ये साधितेऽपि सूक्ष्मं साम्यं नियमेन न सिद्ध्येत्। कदाचिल्लिक्षया वैषम्यं स्यात्। इष्टं च सर्वत्रैव सूक्ष्मं भुजसाम्यं वर्तुलान्तर्गतप्रागुदगै-शान्याग्नेयीसूत्रानुरोधेन साधितेषु भुजेषु भवति। तथा च तथासाधनाय कर्तव्यविशेषोऽत्र प्रदर्शनीयः। किन्तु स कर्तव्यविशेषः प्रागुक्तव्याससूत्रप्रमाणा (२८.४) नुसारिवर्तुले न सम्भवति। अतोऽत्र व्याससूत्रस्य प्रमाणान्तरं दर्शयति—**त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुल**(३७.३) इति।

ननु कथमसम्भवः। सार्धाष्टाविंशत्यङ्गुलानुसारि(२८.४)वर्तुलेऽपि वर्तुलान्तःप्रागुदगैशान्याग्नेयीसूत्रचतुष्टयं दत्त्वैकस्य सूत्रस्याग्रद्देयमित्येवं चतुर्णां सूत्राणां यान्यष्टावग्राणि तत्रैकस्मादग्रात्स्वानन्तरापराग्रपर्यन्तमेको भुज इत्येवं समभुजाष्टसम्भव इति चेन्न। तथा सति योनिमध्ये भुजकोणपातप्रसङ्गात्। ननु त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुलानुसारिवर्तुलेऽपि तथा प्रसङ्गः स्यादिति चेन्मैवं वादीः। यानि तत्राष्टावान्तरसूत्राग्राणि न ते भुजकोणा भवन्ति। किन्त्वन्य एव। तथाहि—युगभुजा भुजचतुष्टयम्। तद्यथा चतुरस्रकुण्डे विदिक्कोणकं कृतं तथाऽत्रापि कर्तव्यम्। अपरं चात्र दिक्कोणमपि तादृशं भुजचतुष्टयमपरं कर्तव्यम्।

तत्र दिक्कोणकानां भुजानां चतुर्षु विदिक्कोणकेषु प्रत्येकं सन्धिद्वयमित्येवं सन्ध्यष्टकं भवति। एकसन्ध्यष्टकमेवाष्टास्रे कुण्डेऽष्टानां भुजानां कोणाः। बाह्यकोणास्त्वेतदिष्टभुजाष्टकसिद्ध्यर्थं कल्पिताः। इष्टभुजसिद्ध्यनन्तरं पश्चात्ते विलोपनीयाः। तदेतद्बाह्यत्र्यस्राष्टकोनमित्यनेन दर्शितम्। इष्टभुज एव बाह्यत्र्यस्रस्य भूमिः। तस्योभयतो दिक्कोणपर्यन्तं चतुर्षु चतुर्षु च विदिक्कोणपर्यन्तं त्र्यस्रस्य भुजद्वयमित्येवं यद्बाह्यं त्र्यस्राष्टकं तेनोनमेतदष्टास्रं कुण्डं भवति। त्र्यस्राष्टकान्तर्गतो भाग उक्ताष्टास्रे कुण्डे न कर्तव्यं इत्यर्थः। नन्वेतत्त्यस्राष्टकमिवापरमप्यत्र त्र्यस्राष्टकं सम्भवति। उक्तं त्र्यस्राष्टकमन्तर्भूमि बहिर्मुखम्। अपरं त्र्यस्राष्टकं चैतद्विपरीतं बहिर्भूम्यन्तर्मुखम्। वर्तुलरेखैव तस्य भूमिः इष्टभुजकोणश्च यस्य मुखम्। द्वयोर्बहिर्मुखयोर्मध्ये एकमन्तर्मुखं त्र्यस्रं भवति एवं तान्यप्यष्टौ त्र्यस्राणि भवन्ति। तान्यपि च विलोपनीयान्येव। तथा च तादृशत्र्यस्राष्टकेनोनमित्यप्यत्र वक्तव्यं तत्कृतो नोक्तमिति चेत्सत्यम्। तदपि विलोपनीयमेव। किन्त्वत्राष्टास्रे कर्तव्यतया यद्दिग्विदिक्कोणकं भुजचतुष्टययुगमुक्तं तदन्तर्गतं तत्र भवतीति तस्य ग्राह्यतया प्रसक्तिरेव नास्ति। अत एव त्र्यस्रचतुरस्रादिषु त्र्यस्रचतुरस्रच्च बहिर्भूतो यो वतुलान्तर्गतो भागस्ते-नोनमित्येवं नोक्तम्।

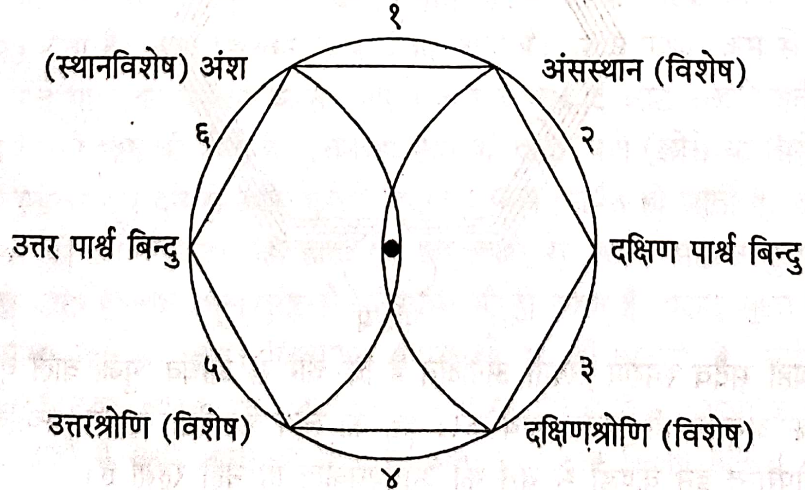
अथ सप्तास्रे कुण्डे कर्तव्यं दर्शयति—**सप्तास्रे दोरि**त्यादिना तृतीयचरणेन। सप्तास्रे दोः, त्रिदोर्दोर्दलम्, इभरसदृग्भागयुक्, वक्त्रतः, ज्याः इति पदानि। सप्तास्रे व्याससूत्रप्रमाणमेकोनत्रिंशदङ्गुलात्मकं (२९) प्रागुक्तम्। त्रिदोर्दोः त्र्यस्रबाहुः। तस्य दलमर्धम्। त्र्यस्रबाहुश्च वृत्तव्यासवर्गस्य पादत्रयमूलेन भवति। प्रकृते वृत्तव्यासः (२९) तस्य वर्गः (८४१) तस्य पादत्रयम् (६३०.६) तस्य मूलम् (२५.१) तस्यार्द्धम् (१२.४.४) एतत्त्रिदोर्दोर्दलम्। तच्चेभरसदृग्भागेन (२६८) अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमेनांशेन युक्तम्। अत्र च त्रिदोर्दोर्दलस्य (१२.४.४) अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोंऽशः (२३८) यूका त्रयात्मकाः। तेन युक्तं तद्दलं चेत्स्थूलमानेन पञ्चयवाधिकद्वादशाङ्गुल(१२.५)-परिमितं भवति। एतत्परिमितं सप्तास्रे दोर्भवति। पञ्चयवाधिकद्वादशाङ्गुलसम्मितः सप्तास्रबाहुर्भवति। तावत्परिमितं सूत्रं चोभयतोऽग्रद्वयमात्रेण वृत्तरेखास्पर्शि देयम्। तच्च मुखमध्य-समारभ्य देयम्। तदुक्तं **वक्त्रतो ज्या** इति। मुखमध्यमारभ्य पुनर्मुखमध्यपर्यन्तं तावन्तः सप्त बाहवो भवन्ति। चतुर्थस्य बाहोर्मध्ये योनिरिति न योनौ भुजकोणपातप्रसङ्गः।

अथ पञ्चास्रे कुण्डे कर्तव्यं दर्शयति—**पञ्चास्रे द्विघ्ने**त्यादिना चतुर्थचरणेन। **पञ्चास्रे** व्याससूत्रप्रमाणं प्रागुक्तम् (३१.१)। द्विघ्नं द्विगुणितं यत्पार्श्वाननं ततिश्च। तयोर्यद्विवरमन्तरं तच्च खाभ्रवेदांशेन चतुःशततमेनांशेन युक्तं यावद्भवति तावान्पञ्चास्रे बाहुर्भवति। व्यासवर्गार्धमूलं पार्श्वाननम्। व्यासस्तुतिः। अथ व्यासः (३१.१) तस्य वर्गः (९६८.६) तदर्धम् (४८४.३) तस्य मूलं (२२) इदं द्विगुणितम् (४४)। तथा व्यासः (३१.१) स द्विगुणितः (६२.२) तयोर्द्विगुणितपार्श्वाननन(४४)तत्यो(६२.२) र्यदन्तरं द्वियवाधिकाष्टादशाङ्गुलसम्मितम् (१८.२)। तच्च पुनः स्वीयेन चतुःशततमेनांशेन

युक्तम्। यवद्वयाधिकाष्टादशाङ्गुलस्य चतुःशततमोंऽशः स्थूलमानेन यूकात्रयात्मकः। तेन युक्तं (१८.२.३) यूकात्रयाधिकसपादाष्टादशाङ्गुलसम्मितं भवति। एतदेव पञ्चास्त्रे कुण्डे भुज-प्रमाणम्। एतत्प्रमाणकं सूत्रं गृहीत्वा मुखमध्यमारभ्याग्रद्वयमात्रेण वृत्तरेखास्पर्शि सूत्रपञ्चकं पुनर्मुखमध्यपर्यन्तं देयम्। त एव च पञ्च बाहवः। अत्रापि तृतीयस्य बाहोर्मध्ये योनिरिति न योनौ भुजकोणपातप्रसङ्गः।।६।।

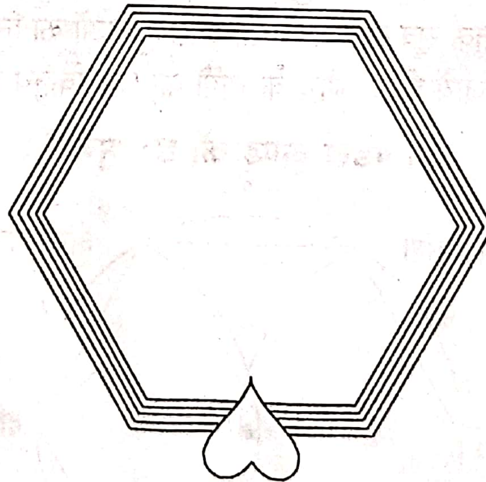
अर्कप्रभा—६. षड्भुज कुण्ड की निर्माणविधि—अब षड्भुज कुण्ड जिसमें चार समान भुजायें होती हैं, उसकी निर्माणविधि कहते हैं—षडस्त्र में वलय व्यास के सूत्र का पूर्वकथित प्रमाण उन्तीस अङ्गुल छः यव है। अस्तु; इतने प्रमाण का वृत्त बनाने के उपरान्त उसके उत्तर पार्श्व बिन्दु पर शङ्कु गाड़ कर वहाँ सूत्रार्द्ध (१४.३) से अर्द्धवर्तुल बनावे। यह अर्द्धवर्तुल प्रकृतिवर्तुल को पार्श्व के पूर्व तथा पश्चिम से स्पर्श करेगा तब दो स्थानों पर स्पर्श करेगा (या काटेगा); अतः इनमें पूर्व के स्पर्शस्थान को उत्तरांस तथा पश्चिम के स्पर्शबिन्दु को उत्तर श्रोणि समझे। इसी प्रकार दक्षिण पार्श्व के मध्य बिन्दु पर से चौदह अङ्गुल तथा ३ यव का सूत्र लेकर शङ्कु गाड़कर उस शङ्कु को केन्द्र मानकर वृत्त के भीतर की ओर अर्द्धवर्तुल बनावे। यह भी प्रकृतिवर्तुल को पार्श्व के पश्चिम तथा पूर्व में स्पर्श करेगा। ये दोनों स्पर्शस्थान क्रमशः दक्षिण श्रोणि तथा दक्षिणांस माने जायेंगे। इसी भाँति उत्तर से पार्श्व मध्य-बिन्दु, अंसबिन्दु तथा श्रोणिबिन्दु—ये तीन स्थान होंगे। इसी तरह से दक्षिण से भी तीन स्थान दक्षिण पार्श्व मध्यबिन्दु, अंसबिन्दु तथा श्रोणिबिन्दु होंगे। इस प्रकार तीन बिन्दु उत्तर में तथा तीन दक्षिण में कुल छः बिन्दु होंगे। इनमें से प्रत्येक स्थान से समीप के अन्य स्थान तक सूत्र देते जायेंगे तो आठ भुजाओं का निर्माण हो जायेगा। यही षडस्त्र कुण्ड की छः भुजायें होंगी। बीच के चापों को (अर्द्धवलय को) विलोपित कर दे।

सम षडस्त्र कुण्ड की छः भुजायें



यहाँ इस प्रसङ्ग में श्रोणि तथा अंस के अन्तर्गत जो स्थानविशेष की बात कही गयी है, वह छः भुजाओं की समता के लिये है; अन्यथा छः भुजायें समान नहीं होंगी। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि अड़तालीस अङ्गुल के किसी वृत्त में छः भाग समान रूप से प्रत्येक आठ अङ्गुल का होना चाहिये। मुख, पुच्छ, अंसद्वय, पार्श्वद्वय तथा श्रोणिद्वय—इन आठ भागों में प्रत्येक छः अङ्गुल का होगा। यदि श्रोणि के अन्तर्गत विशेष भागबिन्दु की कल्पना न की जाती तब पार्श्वमध्य से श्रोणीपर्यन्त भाग श्रोणीमध्यपर्यन्त अथवा श्रोण्यग्रपर्यन्त होता तो प्रारम्भ का भाग छः अङ्गुल का होता। पूर्वाग्र का अन्त्य ग्रहण करने से छः अङ्गुल ही होता। पश्चिमाग्र ग्रहण करने पर नव अङ्गुल होता; परन्तु कोई भी आठ अङ्गुल का नहीं हो सकता। यहाँ पर श्रोणि के अन्तर्गत स्थानविशेष को प्रकल्पित करने पर वह स्थानविशेष पाँच अङ्गुल के अन्तर पर होगा। अब श्रोणि-अन्तर्गत भाग बचता है। उसी प्रकार पार्श्वगत मध्य से पश्चिम का तीन अङ्गुल श्रोणिगत पाँच अङ्गुल इस प्रकार ५+३ = ८ अङ्गुल का इष्ट भाग सम प्रमाण सिद्ध होता है। यद्यपि मुख, मध्य तथा पुच्छ मध्यबिन्दु से भी छः सम भाग किये जा सकते थे। वे भी इसलिये नहीं कहे गये, तब इस स्थिति में योनि का स्थान पश्चिम में दो भुजाओं की सन्धि में पड़ता, जो कि नहीं होना चाहिये; क्योंकि कुण्ड कोण में योनि का निषेध है। इसी प्रकार अंसमध्य या श्रोणिमध्य से आरम्भ कर छः सम भाग किये जाते तो भी योनि भुजसन्धि में नहीं होती। तब भी भुजमध्य में नहीं होती; अत: पार्श्व से आरम्भ कर उक्त छः भागों का कथन किया है।

समषडस्त्र कुण्ड



पश्चिम

यहाँ सदैव स्मरण रखना अपेक्षित है कि चार से अधिक भुजा वाले कुण्डों में सूत्रों के अनुसार ही खनन कार्य करे। वृत्त का लोप कर देना चाहिये; क्योंकि भुज-साधनोपरान्त इन कुण्डों में वृत्त की आवश्यकता ही नहीं रहती है।

षडस्त्र कुण्ड के वृत्त व्यास के मान में अन्य ग्रन्थों में किञ्चित् न्यूनाधिकता भी दृष्टिगोचर होती है; परन्तु उसका व्यावहारिक महत्त्व नहीं है; क्योंकि कुण्डफल सबमें प्राय: पाँच सौ छिहत्तर ही रहता है; परन्तु जानकारी हेतु अन्य ग्रन्थों से व्यास-मान की तुलनात्मक तालिका दी जा रही है। कुण्डार्क ग्रन्थ में सभी कुण्डों को वृत्तान्तर्गत ही बनाने का निर्देश किया गया है।

वृत्तान्तर्गत समषडस्त्र कुण्डमाप की तुलनात्मक तालिका

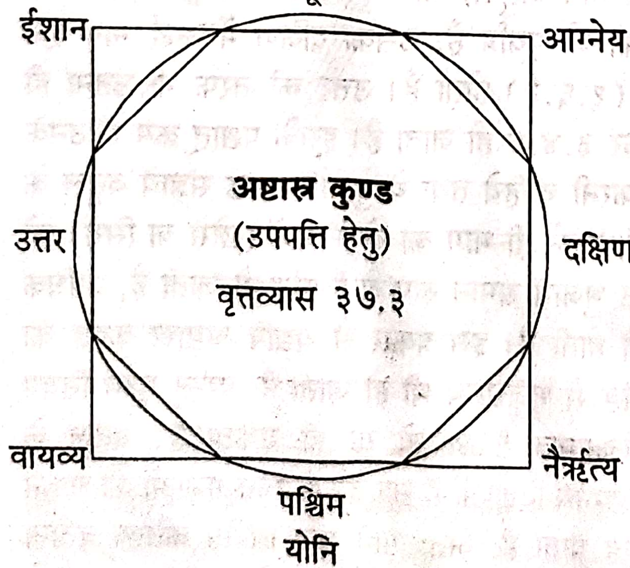
ग्रन्थ का नाम	वृत्तव्यास			वृत्तार्ध सूत्र का मान			क्षेत्रफल (स्थूल)
	अङ्गुल	यव	यूका	अङ्गुल	यव	यूका	
१. कुण्डार्क	२९	६	०	१४	७	०	५७६
२. मण्डपकुण्डसिद्धि	२९	६	४	१४	७	२	५७७
३. कुण्डमार्तण्ड	२९	६	२	१४	७	१	५७६
४. कुण्डोद्योत	२९	६	४	१४	७	२	५७७
५. कुण्डार्णव	२९	६	२	१४	७	१	५७६
६. कुण्डरत्नाकर	२९	६	२	१४	७	१	५७६
७. कुण्डकौमुदी	२९	६	२	१४	७	१	५७६

७. अष्टास्त्र कुण्ड के निर्माण की विधि—पूर्व में (श्लोक-३ में) प्रकृति वृत्त-व्याससूत्र की माप अट्ठाइस अङ्गुल, चार यव (२८.४) कही जा चुकी है। वहाँ साधारण परिभाषा के द्वारा मुख अंस, पार्श्वद्वय, श्रोणिद्वय पुच्छ—ये आठ संज्ञायें बताई गई हैं। उनमें प्रत्येक भाग समान रूप से तीन अङ्गुल, चार यव तथा चार यूका (३.४.४) परिमाण का होता है। प्राक्सूत्र का जो पूर्वाग्र है, उसका दक्षिण में अर्द्ध भाग एक अङ्गुल, छः यव तथा दो यूका (१.६.२) होता है। उत्तर की तरफ भी उतना ही (१.६.२) होता है। अत: मिलकर ३.४.४ हो जाता है। इसके पश्चात् क्रम से उनके अंसादि सात भागों की कल्पना करनी चाहिये तथा ये मुखादि आठ संज्ञायें वर्तुल के अन्तर्गत जितने भाग की होती हैं, उतने ही भाग को दोनों अग्रों (छोरों या सिरों) को ध्यान में रखकर सूत्र देने से आठ भुजायें समान रूप से निर्मित हो जाती हैं, अधिक कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार से यद्यपि अष्टास्त्र कुण्ड का साधन हो जाता है तथा स्थूल दृष्टि से भुजसाम्य भी हो जाता है; परन्तु सूक्ष्म नियम से भुजसाम्य नहीं हो पाता। लिक्षामात्र वैषम्य तो रह ही सकता है। वर्तुल के अन्तर्गत पूर्व, उत्तर, ईशान तथा आग्नेय दिशाओं में सूत्र देने से जिन भुजाओं का साधन होता है, उन्हीं में सूक्ष्म साम्य रह पाता है; अत: यहाँ कुछ विशेष कर्त्तव्य बताना चाहिये; परन्तु वह कर्त्तव्य अट्ठाइस अङ्गुल तथा चार यव (२८.४) के अनुसार ग्रहण किये

गये सूत्र से सम्भव नहीं होता। अत: ग्रन्थकार ने सैद्धान्तिक विवेचना के लिये दूसरा माप 'त्रियवयुतनगत्र्यङ्गुल' अर्थात् सैंतीस अङ्गुल तथा तीन यव (३७.३) बताया गया है।

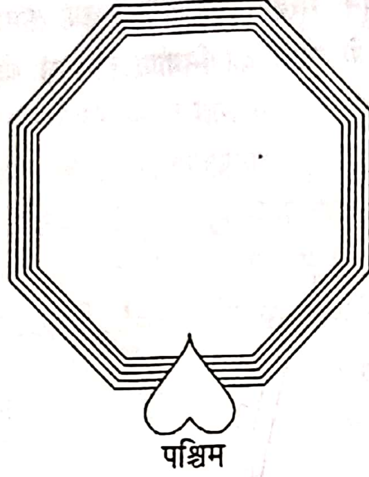
अब पूर्वोक्त २८.४ के व्याससूत्र से विशेष युक्ति को नहीं समझाया जा सकता, उसका विवेचन किया जा रहा है—

साढ़े अट्ठाइस अङ्गुल (२८.४) के व्याससूत्र से निर्मित वर्तुल में भी पूर्व, उत्तर, ईशान तथा अग्निकोण—इन चार दिशाओं में सूत्रचतुष्टय देकर एक सूत्र के दोनों अग्रों (छोरों) इस प्रकार चारों सूत्रों के जो ४×२ = ८ (आठ) अग्र होते हैं, उनमें सूत्र के एक अग्र से दूसरे अग्रपर्यन्त एक भुजा होती है। इस प्रकार आठ सम भुजा सम्भव होती है; अन्यथा नहीं। यदि ऐसा किया जाय तब योनिमध्य में भुजा का कोना पड़ेगा (जबकि योनि का भुजकोण में होना निषिद्ध होता है)। अब सैंतीस अङ्गुल तथा तीन यव (३७.३) वाले सूत्र से निर्मित वर्तुल में भी ऐसा ही होगा—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उसमें जो आठ अवान्तर सूत्र होंगे, वे भुजकोण नहीं होते; अपितु अन्यत्र ही पड़ते हैं। यह इस प्रकार समझें कि चतुरस्र कुण्ड में जिस प्रकार कोने विदिशाओं (कोणों) में पड़ते हैं, वैसा ही इसमें भी होता है। दिक्कोणों की चार भुजाओं की सन्धि भी विदिक्कोणों में ही रहती है। इस प्रकार से आठ सन्धियाँ होती हैं; परन्तु ये आठ सन्धियाँ दिक्कोणों तथा विदिक्कोणों के मध्य में पड़ती हैं तथा दिशाओं एवं विदिशाओं में आठों भुजायें पड़ती हैं। इस प्रकार ३७.३ के वृत्त व्यास का उदाहरण युक्तिपूर्वक अपनी बात को समझाने के लिये किया है। उक्त चतुर्भुज के बाह्य कोणों को विलुप्त कर दिया जाता है; क्योंकि उनकी आवश्यकता ही नहीं होती है।

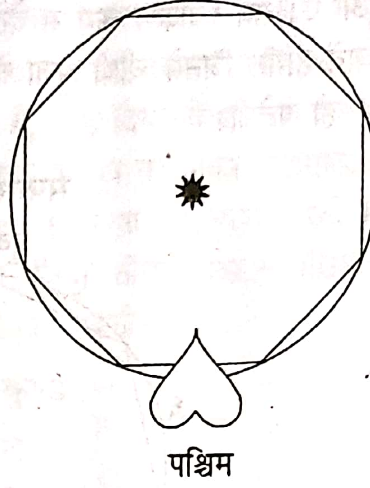


इस चित्र में आठ दिशायें तथा उनमें आठों भुजायें प्रदर्शित हैं। इसमें योनि कोण में नहीं पड़ रही है। उसे ठीक पश्चिम दिशा में बनाया जा सकता है।

सम अष्टास्रकुण्डम्



सम अष्टास्र कुण्ड

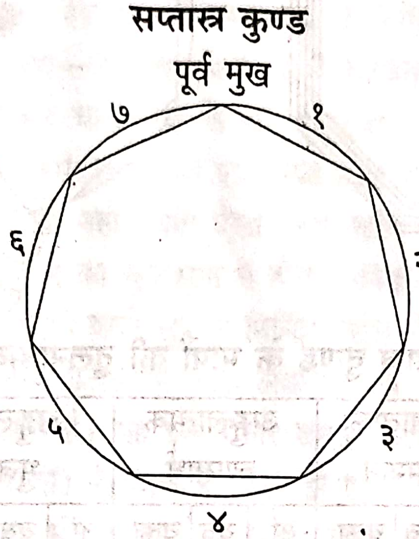


वृत्तान्तर्गत समष्टास्र कुण्ड के मापों की तुलनात्मक तालिका

ग्रन्थ का नाम	अङ्गुलात्मक व्यासमान			अङ्गुलात्मक व्यासार्ध			अङ्गुलात्मक भुजमान				स्थूल क्षेत्रफल
	अं.	यव	यूका	अं.	यव	यूका	अं.	यव	यूका	लिं	
कुण्डार्क	२८	४	०	१४	२	०	१०	७	५	०	५७६
मण्डपकुण्डसिद्धि	२८	४	६	१४	२	३	१०	७	४	३	५७६
कुण्डोद्योत	२८	४	०	१४	२	०	१०	७	१	०	५७६
कुण्डमार्तण्ड	२८	४	६	१४	२	३	१०	७	४	०	५७७
कुण्डरत्नाकर	२८	४	६	१४	२	३	१०	७	४	३	५७८
कुण्डकौमुदी	२८	२	०	१४	१	०	१०	६	१	३	५६४
कुण्डार्णव	२९	०	०	१४	४	०	११	०	६		५९४

८. सप्तास्र कुण्ड-निर्माण-विधि—सप्तास्र कुण्ड में सात समान भुजायें होती हैं। पूर्व में इसका वर्तुल व्यास उन्तीस अङ्गुल बताया गया था। इस उन्तीस का वर्ग किया तो २९×२९ = ८४१ (आठ सौ इकतालीस) अङ्गुल हुए। इसका पादोन अर्थात् $\frac{3}{4}$ (तीन चौथाई) छः सौ तीस अङ्गुल तथा छः यव (६३०.६) होता है। इस ६३०.६ का वर्गमूल निकाला तो पच्चीस अङ्गुल, एक यव (२५.१) हुआ। इस वर्ग का आधा किया तो बारह अङ्गुल, चार यव तथा चार यूका हुआ। इसमें 'इभरस-दृग्' अर्थात् (२६८) दो सौ अड़सठ का भाग दिया तो १२.४.४ का यूका बनाया तब आठ सौ चार यूका (८०४) लब्धि तीन यूका प्राप्त हुई। इसे १२.४.४ में जोड़ा तब १२.४.७ अर्थात् स्थूल मान से १२.५ हुआ। यही सप्तास्र कुण्ड की भुजा का

मान है। इतने प्रमाण का सूत्र लेकर मुख मध्य से प्रारम्भ कर वृत्त रेखा को स्पर्श करता हुआ दे। तब प्रदक्षिण क्रम से देते हुये पुनः मुखमध्य के बिन्दु तक क्रमशः सात भुजायें होंगी; जिनमें चौथी भुजा के मध्य में योनि का निर्माण होने से योनि कोण में नहीं पड़ेगी।



(चित्र में दिये गए अंक भुजाओं की क्रमसंख्या है)

वृत्तान्तर्गत सप्तास्त्र कुण्ड की तुलनात्मक तालिका

ग्रन्थ का नाम	वृत्तव्यास का मान			व्यासार्ध				भुजमान			स्थूल क्षेत्रफल
	अं	यव	यूका	अं	यव	यूका	लि	अं	यव	यूका	
१. कुण्डार्क	२९	०	०	१४	४	०	०	१२	४	५	५७६
२. कुण्डमार्तण्ड	२९	०	०	१४	४	०	०	१२	४	५	५७६
३. कुण्डरत्नाकर	२९	२	४	१४	५	२	०	१२	६	६	५९९
४. कुण्डतत्त्वप्रदीप	२८	६	४	१४	३	२	०	१२	७	५६	५८८
५. कुण्डप्रदीप	२८	६	०	१४	३	०	०	१२	२	०	५४६
६. कुण्डार्णव	२९	५	२	१४	२	५	०	१२	७	०	६०२
७. कुण्डमरीचिका	२९	५	४	१४	२	६	०	१२	७	३	६०५

९. पञ्चास्त्र कुण्ड की निर्माण-विधि—अब श्लोक के चतुर्थ चरण में पञ्चास्त्र कुण्ड कैसे बनाया जाय? यह बताया जा रहा है। पञ्चास्त्र कुण्ड के वलयव्यास के सूत्र का मान पूर्व में इकतीस अङ्गुल तथा एक यव बताया जा चुका है। इस ३१.१ का वर्ग ३१.१×३१.१ = नौ सौ अड़सठ अङ्गुल तथा छः व्यङ्गुल होता है। इस व्यास वर्ग का आधा चार सौ चौरासी अङ्गुल तथा तीन यव (४८४.३) होता है,

जिसका वर्गमूल बाईस (२२) अङ्गुल हुआ। इसे द्विगुणित किया तो चौवालीस (४४) अङ्गुल हुआ। व्यास ३१.१ को द्विगुणित किया तो ६२.२ हुआ। ६२.२ में से ४४ को घटाया तो दोनों का अन्तर १८.२ हुआ, जिसमें उसी का चार सौवाँ भाग, ज़ो कि स्थूल मान से तीन यूका होता है, जोड़ दिया तो १८.२.३ हुआ। यही पञ्चास्र कुण्ड का भुजप्रमाण हुआ। इस प्रमाण के सूत्र को लेकर मुखमध्य के बिन्दु से प्रदक्षिणक्रम से सूत्र देना प्रारम्भ करें तो वृत्त रेखा को स्पर्श करती हुई पाँच भुजायें बन जायेंगी। ये पाँच भुजायें वे होंगी, जिनमें तीसरी भुजा में पश्चिम दिशा में योनि रहेगी, जिससे कि वह भुज कोण में नहीं पड़ेगी।

पञ्चास्र कुण्ड

पूर्वमुख

उत्तर

दक्षिण

योनि

पश्चिम

वृत्तान्तर्गत पञ्चास्र कुण्ड के मान की तुलनात्मक तालिका

ग्रन्थ का नाम	वलयव्यास अङ्गुलात्मक			व्यासार्ध अङ्गुलात्मक				भुजमान अङ्गुलात्मक				स्थूल फल
	अं	यव	यूका	अं	यव	यूका	लि	अं	यव	यूका	लि	
१. कुण्डार्क	३१	१	०	१५	४	४	०	१८	२	३		५७६
२. कुण्डमार्तण्ड	३१	१	२	१५	४	१	०	१८	२	४		५७६
३. कुण्डदर्पण	३०	६	७	१५	३	३	४	१८	४	०		५८८
४. कुण्डमरीचिका	३०	६	०	१५	३	०	०	१८	४	१	४	५८८
५. कुण्डराम वाजपेयी	३०	७	२	१५	३	५	०	१८	४	२		५९०
६. कुण्डरत्नाकर	३०	७	४	१५	३	६	०	१८	१	२		५७६
७. कुण्डार्णव	३०	७	०	१५	३	४	०	१८	४	२		५९०
८. कुण्डतत्त्वप्रदीप	३०	७	१	१५	३	४	४	१८	४	२	२	५९१

वृत्तव्यासे नवांशे द्विचतुरिभलवैः कर्णिकाकेसरान्तः-
पत्रक्ष्मामण्डलानि स्युरवधिवलयं स्यात्सतत्त्वांशपङ्क्त्या ।
त्र्यस्राण्यष्टौ बहिस्तच्छुतिदलगुणकौ द्विघ्नमौर्वीभ्रमेण
चापावन्तर्बहिर्ज्याविति कुरु मतिमन्नष्टपत्राब्जकुण्डम् ॥७॥

कुण्डार्कोदया—अथ पद्मकुण्डे कर्तव्यं दर्शयति—**वृत्तव्यास इति ।** पद्मकुण्डे व्यासः सूत्रप्रमाणं (२७.०.५) प्रागुक्तम्। तदनुसारिवृत्ते साधिते व्यासस्य तादृशवृत्तान्तर्गतभागस्य समान्तरा नवांशाः कर्तव्याः। ते च मण्डलाकाराः कार्याः। तेषु कांश्चिदुद्दिश्य मण्डलविशेषसंज्ञाकथनात्। मध्यबिन्दुमभिलक्ष्य परितो यूकार्धसहिताङ्गुलत्रयात्मकव्यासयुगं प्रथमं मण्डलं साधयेत्। तत्साधनाय तादृशव्यासार्धप्रमाणं सूत्रं मध्यबिन्दुमभिलक्ष्य परितो भ्रामयेत्। तत्प्रथमं मण्डलम्। ततो बहिरेतावत्येवाकाशे तद्द्विगुणप्रमाणं सूत्रं वर्तुलाकारं पुनर्भ्रामयेत्। तद्द्वितीयं मण्डलम्। एवं त्रिगुणेन सूत्रेण तृतीयं चतुर्गुणेन चतुर्थमित्येवं तृतीयादीनि मण्डलानि साधयेत्। प्रकृतिवृत्तरेखया च चरमया नवमं मण्डलम्। अत्रान्तरसाम्याय नवांशा उक्ताः। उपयोगस्तु द्वितीयचतुर्थाष्टमानाम्। अवशिष्टानि विलोपनीयानि। द्वितीयमण्डलस्य कर्णिकामण्डलमिति संज्ञा। मध्यबिन्दुमभितो द्वितीयमण्डलपर्यन्तस्य सर्वस्य भागस्य कर्णिकात्वात्। ततो बहिश्चतुर्थमण्डलपर्यन्तस्य भागस्य केसरमण्डलमिति संज्ञा। तावत्पर्यन्तं केसरदर्शनात्। अष्टममण्डलस्यान्तःपत्रक्ष्मामण्डलमिति संज्ञा। अन्तरित्यव्ययं मध्यवाचि। पत्रक्ष्मा पत्रभूमिः। अष्टमे मण्डले हि पत्रमध्यो भवति। तावत्पर्यन्तं पत्राणि मिथः संलग्नानि। ततो बहिः पत्राणां मिथो विभावो दृश्यते। विभागे सति पत्रद्वयमध्यगतो भागो वर्तुलान्तर्गतोऽपि न पद्मकुण्डान्तर्गतः। तत्र पद्मावयवस्य कस्याप्यदर्शनात्। पत्राग्राणि च वृत्ताद्बहिः कियत्यवकाशो दृश्यन्ते। सोऽवकाशो वृत्ताद्बहिरपि पद्मकुण्डान्तर्गतः। तत्र वृत्ताद्बहिः पत्राग्रस्पर्शि यद्दशमं मण्डलं तदवधिवलयमित्युच्यते। वृत्तान्तर्गतानि च नवमण्डलानि प्रत्येकं यावताऽन्तरेण साधितानि तावतैवान्तरेणेषदधिकेन दशमं साधनीयम्। ईषदाधिक्यं च तत्र तत्त्वांशेन। तत्त्वांशः पञ्चविंशांशः। स च पञ्चविंशोंऽशः दशममण्डलव्यासस्य यावन्त्यङ्गुलानि तस्य ग्राह्यः। सतत्त्वांशेति पङ्क्तेर्विशेषणात्। पङ्क्तिर्दशमोंऽशः। दशमं मण्डलमिति यावत्। तादृशदशममण्डलव्यासस्याङ्गुलानि च सार्धयूकापञ्चकसहितानि त्रिंशत् (३०.०.५.४) तस्य पञ्चविंशो भागः स्थूलमानेन (१.१) इति। मिलित्वा दशममण्डलव्यासः सार्धयूकापञ्चकसहितैकयवयुतैकत्रिंशदङ्गुलप्रमितः (३१.१.५.४) साधितो भवति। ततोऽष्टममण्डलाद्बहिरष्टौ त्र्यस्राणि साधनीयानि। तथाहि—अष्टममण्डलरेखायामष्टासु दिक्ष्वष्टौ चिह्नानि कर्तव्यानि। चिह्नद्वयान्तर्गता रेखा बाह्यत्र्यस्रस्य भूमिः। त्र्यस्रे ह्येका भूमिः। उभयतस्तादृशभूमिसम्बद्धं कर्णद्वयम्। तच्च कर्णद्वयं मिथोऽग्रेण सङ्गतं भवति। तादृशशकर्णद्वयं चात्र नवममण्डलरेखां मध्यतः कृत्वाऽवधिमण्डलरेखायामेकत्र स्वस्वाग्रेण यथा स्पृशेत्तथा साधनीयम्। कर्णमध्यश्च

नवममण्डलरेखातो बहिरर्धाङ्गुलसम्मिते प्रदेशे स्यात्। एवमष्टौ त्र्यस्राणि साधनीयानि। प्रतित्र्यस्रं च चापचतुष्टयमित्येवं द्वाविंशच्चापा भवन्ति। प्रतित्र्यस्रं कर्णद्वयम्। प्रतिकर्णं च चापद्वयम्। चापे हि सरला ज्या। अर्द्धवर्तुलाकारं कोष्ठं च दृश्यते। अत्र हि एकैकस्य कर्णस्य समौ द्वौ भागौ कार्यौ। तत्र प्रथमार्धमस्वममण्डलरेखास्पर्शि। द्वितीयार्धमवधिमण्डलस्पर्शि। अर्धद्वयमपि धनुर्द्वयस्य ज्ये एव भवतः। तत्र प्रथमार्धरूपा ज्या कुण्डान्तर्गता। तदीयार्धवर्तुलाकारश्च ज्यायाः सकाशाद्बहिरवधिवलयाभिमुखः कुण्डान्तर्गतश्च भवति। द्वितीयार्धरूपा ज्या तु कुण्डाद्बहिर्भूतः। तदीयार्धवर्तुलाकारस्तु ज्यायाः सकाशादान्तर्नभममण्डलाभिमुखः कुण्डाद्बहिर्भूतो भवति। स चार्धवर्तुलाकार इत्थं सम्पादनीयः। कर्णार्धरूपाया ज्याया अग्रद्वयं कर्णप्रमितसूत्रस्याग्रद्वयेन सङ्गतं कार्यम्। अर्थादेवं च तत्सूत्रं शिथिलं स्यात्। तच्च सूत्रं मध्यभागेनाऽऽकर्षणीयम्। आकर्षणं च प्रथमार्धेऽष्टममण्डलरेखाभिमुखम्। द्वितीयार्धे तु ततो विपरीतं दशममण्डलरेखाभिमुखम्। आकर्षणानन्तरं च जाग्रद्वयसङ्गतसूत्राग्रद्वयमध्येऽन्तरत्किञ्चिदेकं ज्याग्राद्वियुक्तं कृत्वा ज्याया द्वितीयाग्रपर्यन्तं भ्रामयेत्। भ्रामणेन चार्धवर्तुलाकारः सम्पद्यते। स चार्धवर्तुलाकारः प्रथमार्द्धे ज्याया बहिः। द्वितीयार्द्धे ज्याया अन्तः। अर्द्धवर्तुलाकारघटको धनुर्भागश्च प्रथमार्द्धे त्र्यस्राद्बहिर्भवति कुण्डान्तर्गतश्च भवति। द्वितीयार्द्धे तु तद्वैपरीत्येन त्र्यस्रान्तर्भवति कुण्डाच्च बहिर्भवति।

तच्छ्रुतिदलगुणकावित्यादेरयमर्थः। तस्य त्र्यस्रस्य या श्रुतिः कर्णः, तस्य दलमर्धं, तदेव गुणो ज्या ययोस्तादृशौ चापौ। अनेन चापस्य ज्या साधित्ता। द्विघ्नमौर्वीभ्रमेणेत्यनेनार्धवर्तुलाकारः साध्यते। ज्यापेक्षया द्विघ्ना द्विगुणा या मौर्वी सूत्रं तस्य च पूर्वोक्तरीत्या भ्रमः कार्यः। अन्तश्च बहिश्च ज्ये ययोस्तावन्तर्बहिर्ज्यौ चापौ कुरु। हे मतिमन्ननेन प्रकारेणाष्टपत्रं पद्मकुण्डं भवतीति।।७।।

अर्कप्रभा—१०. पद्म कुण्ड की कर्तव्यता—पूर्व में पद्मकुण्ड के वलयव्यास का सूत्रप्रमाण सत्ताईस अङ्गुल तथा पाँच यूका (२७.०.५) बता चुके हैं। उसके अनुसार वृत्तसाधन करना चाहिये। इस प्रकार से साधित वृत्त के नौ भाग करें। वे भाग मण्डलाकार (वृत्ताकार) होना चाहिये। उन्हें मण्डलविशेष कहा जाता है। सर्वप्रथम वृत्त के केन्द्रबिन्दु से तीन अङ्गुल तथा आधा यूका (अर्थात् चार लिक्षा) का सूत्र लेकर उससे मण्डल बनावें। इसका निर्माण उसके व्यासार्द्ध प्रमाण (१.४.०.२) के भ्रामण द्वारा करें। यह प्रथम मण्डल हुआ। इसके पश्चात् उस सूत्र से द्विगुणित सूत्र लेकर भ्रमण कराकर मण्डल बनावें। यह द्वितीय मण्डल हुआ। यह मण्डल प्रथम मण्डल के बाहर बनेगा। इसी प्रकार त्रिगुण सूत्र से तीसरा मण्डल, चतुर्गुण से चौथा, पञ्चगुण से पाँचवाँ और इसी प्रकार शेष मण्डल बनावें तथा प्रकृति वृत्त रेखा की सीमा द्वारा अन्तिम नवम मण्डल निर्द्धारित होता है। इन मण्डलों में अन्तर में समानता होने से इनको 'नवांश' कहा जाता है।

इनमें केवल दूसरे, चौथे तथा आठवें मण्डल का ही उपयोग होता है। अवशिष्ट को विलोपित कर दिया जाता है। द्वितीय मण्डल को 'कर्णिकामण्डल' की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि प्रकृतिवृत्त में मध्यवर्ती केन्द्र-बिन्दु से दूसरे मण्डल की सीमा तक पद्म (कमल) की कर्णिका रहती है। अतः इसे 'कर्णिकामण्डल' कहते हैं। फिर उसके बाहर चौथे मण्डलपर्यन्त भाग की संज्ञा 'केसरमण्डल' है; क्योंकि वहाँ तक कमल की केसर दिखाई देती है। फिर अष्टम मण्डलपर्यन्त कमल के अन्तःपत्र होते हैं; अतः उस भाग की संज्ञा 'क्ष्मामण्डल' कही गयी है। आठवें मण्डल में पत्रमध्य होता है, वहाँ तक पत्र आपस में जुड़े रहते हैं। इस मण्डल के बाहर पत्र अलग-अलग दिखते हैं। दो पत्तों के बीच का भाग वर्तुल के अन्तर्गत होते हुए भी पद्म कुण्डान्तर्गत नहीं होता; क्योंकि कमल के अवयव कुण्ड में किसी को नहीं दिखते। पत्राग्र जितने अवकाश से वृत्त के बाहर दिखते हैं, वह अवकाश वृत्त से बाहर होते हुए भी पद्म कुण्डान्तर्गत होता है। वहाँ वृत्त से बाहर पत्राग्रस्पर्शि जो दशम मण्डल होता है, उसे 'अवधिवलय' (अबाधा वलय) कहते हैं। वृत्तान्तर्गत नव मण्डलों में प्रत्येक जितने अन्तर से साधित होता है, उतने ही अन्तर से कुछ अधिक से दशम मण्डल का साधन करना चाहिये। वह जो ईषदाधिक्य कहा गया है, वह तत्त्वांश (पच्चीसवाँ भाग $=\frac{१}{२५}$) है। यह पच्चीसवाँ भाग दशम मण्डल के अङ्गुलात्मक व्यास का ग्रहण करना चाहिये। दशम मण्डल को ही 'पङ्क्तिमण्डल' कहा गया है। दशम मण्डल का व्यास ३०.०.५.४ होता है, उसका पच्चीसवाँ भाग स्थूल मान से १.१ होता है। इसको मिलाकर दशम मण्डल का व्यास होता है, जो कि ३१.१.५.४ हो जाता है।

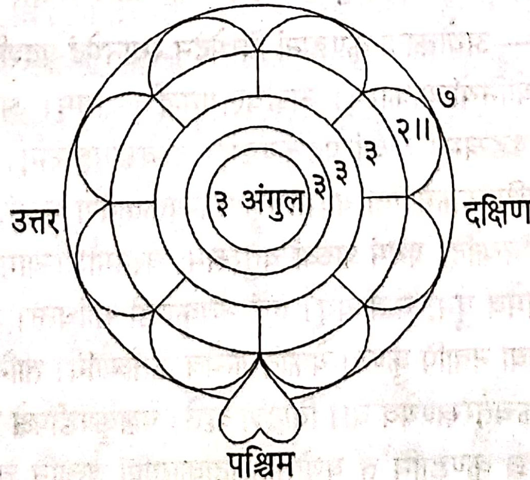
इसके पश्चात् अष्टम मण्डल के बाहर आठ त्र्यस्रों का साधन करना चाहिये। इसके साधन के लिये अष्टम मण्डल की दिशाओं में आठ चिह्न बना दें। दो चिह्नों के अन्तर्गत की रेखा बाह्य त्रिकोण की भूमि होगी। त्र्यस्र में एक भूमि होगी। दोनों ओर से उस प्रकार की भूमि से सम्बद्ध दो कर्ण होंगे। वे दोनों कर्ण परस्पर अग्र से जुड़े होंगे। उस प्रकार के कर्णद्वय नवम मण्डल की रेखा में मध्य से बनाकर अबाधा मण्डल रेखा में एकत्र अपने-अपने अग्र से जैसा स्पर्श करें, वैसा बनावें। कर्णमध्य नवम मण्डल रेखा से बाहर आधा अङ्गुल प्रमाण प्रदेश में होंगे। इसी प्रकार से आठो त्र्यस्रों को साधित करना चाहिये। प्रत्येक त्र्यस्र में चार चापों के हिसाब से ८×४ = ३२ कुल बत्तीस चाप होंगे। प्रत्येक त्र्यस्र में दो कर्ण होंगे। प्रतिकर्ण में दो चाप होंगे। चाप में सरल ज्या होगी तथा अर्द्धवर्तुलाकार कोष्ठक भी दिखायी देगा। यहाँ एक-एक कर्ण के दो-दो समान भाग करना चाहिये। उनमें प्रथमार्द्ध स्वमण्डल-स्पर्शित होगा तथा द्वितीयार्द्ध अवधिमण्डल की रेखा का स्पर्श करेगा। दोनों अर्द्ध (अर्द्धद्वय) ही धनुर्द्वय (चापद्वय) की ज्या होंगे। उनमें प्रथमार्द्ध रूप ज्या कुण्ड के अन्तर्गत

होगी। उसका अर्द्धवर्तुलाकार ज्या के समीप से बाहर की ओर अवधि वलय (अवधा वलय या अवाधा वलय) के अभिमुख कुण्ड के अन्तर्गत होता है। द्वितीयार्द्ध रूपा ज्या कुण्ड से बाहर होगी। उसका अर्द्धवर्तुलाकार ज्या से सटकर नवम मण्डल के अभिमुख कुण्ड से बाहर होगा। उसे अर्द्ध वर्तुलाकार बनावें। कर्णार्द्धरूपा ज्या के अग्रद्वयों को कर्णप्रमित सूत्र के अग्रद्वयों से सङ्गत करें (जोड़ें)। अर्थात् इस प्रकार से सङ्गत करें कि वह सूत्र ढीला रहे। उस सूत्र को मध्यभाग में खींचना चाहिये। यह आकर्षण (खिंचाव) अष्टम मण्डल की रेखा के अभिमुख होता है। खींचने के उपरान्त ज्याग्रद्वय के सङ्गत सूत्राग्रद्वय मध्य में भीतर किञ्चित् एक सूत्र ज्याग्र से वियुक्त (पृथक्) करके ज्या के द्वितीयाग्र पर्यन्त घुमावे। उस भ्रामण से अर्द्धवर्तुलाकार सम्पन्न होता है। वह अर्द्धवर्तुलाकार प्रथमार्द्ध में ज्या के बाहर होता है। द्वितीयार्द्ध ज्या के भीतर होता है। अर्द्धवर्तुलाकार घट की तथा धनुर्भाग प्रथमार्द्ध में त्र्यस्र के बाहर होता है; परन्तु कुण्ड के अन्तर्गत ही होता है। द्वितीयार्द्ध में उसका विपर्यय होने से वह त्र्यस्र के अन्तर्गत, परन्तु कुण्ड के बाहर होता है।

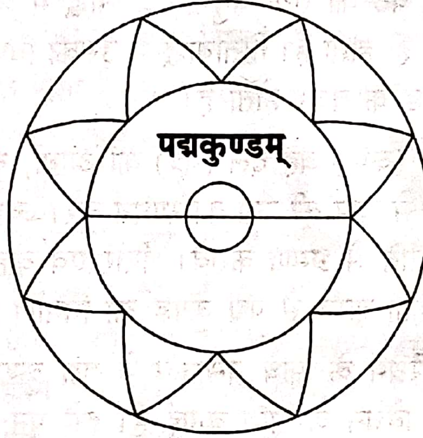
उक्त त्र्यस्र की श्रुति (कर्ण) वह दल (पत्र) का आधा, वही ज्या तथा वैसा ही चाप होता है। इस विधि से चाप की ज्या का साधन करे। ज्या से द्विगुणित जो मौर्वी सूत्र है, उसको पूर्वोक्त रीति से भ्रमण करावे। भीतर एवं बाहर की ज्याओं से चाप बनाइये। हे मतिमान्! ऐसा करने से पद्म कुण्ड का निर्माण हो जाता है।।७।।

इस प्रकार बड़े परिश्रम के साथ ग्रन्थकार ने पद्म कुण्डके निर्माण की विधि उसके सूक्ष्मावयवों के विवेचन के साथ बनाई है। इसे पुन:-पुन: अवलोकित कर सावधानी के साथ विद्वानों को कमल के आकार वाले परम शुभ फल देने वाले सुख-समृद्धिदायक पद्म कुण्ड की रचना करनी चाहिये।

पद्मकुण्डम्







वेदास्रं योनिरर्धं वलयमनलदोर्वृत्तमङ्गास्रमब्जं
वस्वस्रं चेन्द्रदिक्तः प्रथमचरमयोरन्तराले युगास्रम्।
वृत्तान्याद्यानि वा स्युर्नवविदिशऋते पञ्च वा स्युः प्रतीच्या-
मेकं कुण्डं यदि स्यात्पुरहरदिशि वा तानि वेद्याः पदान्ते ॥८॥

कुण्डार्कोदया—अथोक्तानां कुण्डानां दिग्भेदेन स्थानभेदं प्रदर्शयति—**वेदास्रमिति।** वेदास्रं चतुरस्रम्। योनिर्योन्याकारम्। अर्द्धवलयमर्द्धचन्द्राभम्। अनलदोरत्र्यस्रम्। वृत्तं वर्तुलम्। अङ्गास्रम् षडस्रम्। अब्जं पद्मकुण्डम्। वस्वस्रमष्टास्रम्। इन्द्रदिक्तः इन्द्रदिक् प्राची। तामारभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेणैतान्यष्टविधकुण्डान्युक्तक्रमेण भवन्ति। प्राच्यां चतुरस्रम्। आग्नेय्यां योन्याकारमित्यादि। प्रथमं प्राच्यां चतुरस्रम्; चरममीशान्यामष्टास्रम्। तयोरन्तराले मध्ये युगास्रं चतुरस्रमेव पुनः कर्तव्यम्। एवं नवकुण्डी साधिता। अस्यां पञ्चास्रसप्तास्रयोर्नावकाशः। अथवा नवापि कुण्डान्येकविधान्येव कर्तव्यानि। तानि च वृत्तानि वर्तुलानि वा स्युराद्यानि प्रथमोक्तचतुरस्रण्येव वा। विदिश ऋते। पञ्चकुण्डीपक्षे विदिक्स्थानि चत्वारि न कार्याणीत्यर्थः। पञ्च कुण्डानि तु यथोक्ततत्तदाकाराणि वृत्तानि चतुरस्राणि वेति त्रयः

कल्पाः। एकं कुण्डं यदि स्यादेककुण्डीपक्षे तदेकं कुण्डं प्रतीच्यां दिशि कार्यं पुरहर-दिशीशान्यां वा कार्यम्। प्रतीच्यां चेद्वृत्तं चतुरस्रं वा। ईशान्यां चेदष्टास्रं वृत्तं चतुरस्रं वा। कुण्डरचना च मण्डपान्तर्गतवेदिप्रदेशाद्बहिः पदमात्रप्रदेशं त्यक्त्वा कार्येत्यर्थः। पञ्चास्रसप्ता-स्रयोरुपयोगस्त्वभिचारशमे भूतोत्सादे च बोध्यः।।८।।

अर्कप्रभा—नवकुण्डीपक्ष में कुण्डों का दिशा-निर्धारण—अब पूर्वादि दिशाओं में नवकुण्डी यज्ञशाला (मण्डप) में किस आकार वाले कुण्ड की स्थापना किस दिशा में करें, यह बताया जा रहा है। पूर्वादि दिशाओं में क्रमशः चतुरस्र, योनि कुण्ड, अर्द्ध-चन्द्र, त्रिकोण कुण्ड, वृत्त कुण्ड, षडस्र, पद्म तथा अष्टास्र को बनाया जाता है।

१. पूर्व दिशा के भाग में सर्वप्रथम चतुरस्र कुण्ड का निर्माण करें।
२. अग्निकोण में योनि कुण्ड बनावें।
३. दक्षिण में अर्द्धचन्द्र कुण्ड बनावें।
४. नैर्ऋत्य कोण में त्रिकोण कुण्ड का निर्माण करें।
५. पश्चिम में वृत्त कुण्ड बनावें।
६. वायव्य कोण में षडस्र कुण्ड बनावें।
७. उत्तर दिशा में पद्म कुण्ड का निर्माण करें।
८. ईशान कोण में अष्टास्र कुण्ड को बनाना चाहिये।

इस प्रकार यह नवकुण्डी की व्यवस्था है। इसमें सप्तास्र तथा पञ्चास्र का प्रयोग नहीं होता। कुण्ड-रचना वेदी-प्रदेश के बाहर करें। नवाँ चतुष्कोण कुण्ड या तो मध्य में बनता है अथवा पूर्व एवं ईशान के मध्य में ही बना दिया जाता है।

नवों कुण्डों का आकार एक जैसा भी रख सकते हैं।

पञ्चकुण्डी पक्ष में विदिशाओं को छोड़कर पाँच कुण्ड बनाये जाते हैं अथवा विदिशाओं को छोड़कर पाँचों दिशाओं (मध्यसहित) में चतुरस्र या वृत्तकुण्ड बना लिये जाते हैं। यह विकल्प है। यदि मध्य में देवता की वेदी न हो तो मध्य में भी कुण्ड बनाये जा सकते हैं; अन्यथा कोणों में ही सर्वतोभद्रादि वेदियों का निर्माण करना चाहिये।

पञ्चास्र तथा सप्तास्र कुण्डों का उपयोग क्रमशः अभिचार की शान्ति तथा भूत-प्रेतादि की शान्ति के लिये होता है।।८।।

अग्निपुराण में अग्निकोण में योनि कुण्ड, दक्षिण में खण्डेन्दु कुण्ड, नैर्ऋत्य में त्रिकोण कुण्ड, वायव्य में षडस्र कुण्ड, उत्तर में पद्म कुण्ड तथा ईशान में अष्टास्र के निर्माण का निर्देश किया गया है—

भगाभमग्नौ खण्डेन्दु दक्षे त्र्यस्रञ्च नैर्ऋते।
षडस्रं वायवे पद्मं सौम्ये चाष्टास्रकं शिवे।।

कुण्डमार्तण्ड के अनुसार पञ्चसप्तास्रों का फल—

त्वभिचारकर्मशमनं पूर्वज्ञविद्वत्स्मृतम्। स्याद्भूतदोषशमनं समसप्तकोणम्।।

नवकुण्डी पक्ष में कुण्डों का दिग्विभाग

ईशान — पूर्व — अग्नेय

अष्टास्र कुण्ड	चतुरस्र कुण्ड	योनि कुण्ड
पद्म कुण्ड	चतुरस्र कुण्ड	अर्धचन्द्र कुण्ड
षडस्र कुण्ड	वृत्त कुण्ड	त्रिकोण कुण्ड

उत्तर — दक्षिण

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

पञ्चकुण्डी पक्ष में कुण्डदिशा चक्र

ईशान — पूर्व — आग्नेय

नवग्रह वेदी सर्वतोभद्र	चतुरस्र कुण्ड	मातृका वेदी
पद्म कुण्ड	चतुरस्र कुण्ड	अर्धचन्द्र कुण्ड
क्षेत्रपाल योगिनी वेदी	वृत्त कुण्ड	वास्तु वेदी

उत्तर — दक्षिण

वायव्य — पश्चिम — नैर्ऋत्य

खातं कुण्डाभमानं जिनलवगलतः स्युर्बहिर्मेखलास्ता
नन्दाऽङ्गत्र्युच्चवेदत्रिकरविततयोंऽशोच्चनाभिर्द्विपुष्टा ।
स्वाभा नाब्जेऽब्जभा वा वसुनवकलवव्यासदैर्घ्या तु योनिः
पश्चान्नालाग्रगा नो भग उपरि भुवाऽग्रेण कुण्डं विशन्ती ॥९॥

कुण्डार्कोदया—अथ कुण्डरचनार्थं खातादि दर्शयति—**खातमिति**। खातं गर्तः। जिनाश्चतुर्विंशतिः। नन्दा नव। अङ्गानि षट्। उच्चा उन्नताः। वेदाश्चत्वारः। करौ द्वौ। विततिरायामः। वसवोऽष्टौ। यादृशाकारं कुण्डं कर्तव्यं तादृशप्रमाणो गर्तो विधेयः। यथैकहस्ते चतुरस्रे कुण्डे चिकीर्षिते चतुरस्र एव गर्तः कर्तव्यो भवति। स चाधस्तादेकहस्तप्रमाणः। एकहस्तस्य चतुरस्रकुण्डस्य पूर्वापरायामो दक्षिणोत्तरायामश्च सम एव चतुर्विंशत्यङ्गुलात्मकः। गर्तस्तु परितश्चतसृषु दिक्षु पञ्चाङ्गुलैरधिकः। पञ्चाङ्गुलेत्युपलक्षणम्। भूमेः शैथिल्ये कुण्डस्य दार्ढ्यार्थमधिकस्यापि भूभागस्य खननीयत्वात्। पञ्चाङ्गुलात्मकश्चायं भागो मध्ये चतुर्विंशत्यङ्गुलं कुण्डावकाशं त्यक्त्वा तस्याभितो भित्त्याकार इष्टकाशकलादिभिर्विरचनीयः। स चैकहस्तोन्नतः। तावतोपरि भूभागः समो भवेत्। समे च भूभागे तादृशभूभागान्तर्गतश्चतसृष्वपि दिक्षु कुण्डसमीप एकाङ्गुलात्मको भागः कुण्डस्य गल इत्युच्यते। जिनलवश्चतुर्विंशतितमोंऽश एकाङ्गुलात्मकः। तद्रूपाद्गलाद्बहिर्मेखलात्रयं भवति। तत्र गलस्याभितस्तत्समीपे चतुरङ्गुलायामा नवाङ्गुलोच्चा प्रथमा मेखला। तस्याः समीपे परितस्तदपेक्षया न्यूना द्वितीया मेखला। सा च त्र्यङ्गुलायामा षडङ्गुलोच्चा। तदपेक्षयाऽपि न्यूना परितस्तत्समीपे तृतीया मेखला। सा च द्व्यङ्गुलायामा त्र्यङ्गुलोच्चा। मेखलासूत्तरोत्तरं न्यूनत्वमौन्नत्येनाऽऽयामेन च भवति। नन्दाङ्गत्र्युच्चाश्च ता वेदत्रिकरविततयश्चेति कर्मधारयः। अंशोच्चनाभिः। कुण्डस्य तलभागे मध्ये नाभिः कार्या। सा चैकाङ्गुलोच्चा। अंश एको भागः। स चाङ्गुलात्मकः। सा च नाभिर्द्विपुष्टा। अङ्गुलद्वयेन पुष्टा। नाभिभागस्य क्षेत्रफलं द्व्यङ्गुलात्मकं यथा भवति तथा कार्येत्यर्थः। सा च स्वाभा। मनुष्येषु यथा नाभ्याकारो दृश्यते तथा तस्या आकारः कार्यः। स च गर्तरूपः। अथवाऽब्जभा। अब्जाकारा। नाब्जे। अब्जकुण्डे तु नाभिर्न कर्तव्येत्यर्थः। तत्र मध्ये कर्णिकायाः सत्त्वात्। मेखलात्रयोपरि पश्चिमदिशि मध्यभागे योनिः कार्या। वसवश्च नव च ये लवा अंशा अङ्गुलरूपास्तदात्मकः क्रमेण व्यासो दैर्घ्यं च यस्यास्तादृशी। योनेर्दक्षिणोत्तरव्यासोऽष्टाङ्गुलसम्मितः। प्राक्पश्चिमदैर्घ्यं च नवाङ्गुलात्मकमित्यर्थः। पश्चान्नाला। योनेर्नालं सच्छिद्रं पश्चात्कर्तव्यम्। नो भगे योनिकुण्डे पुनरन्या मेखलोपरि योनिर्न कर्तव्या। मेखलोपरि भुवा स्वाग्रेण कुण्डं प्रविशन्ती योनिः कार्या। प्राक्प्रवणेत्यर्थः।।९।।

अर्कप्रभा—कुण्डखात-प्रदर्शन—अब कुण्ड का खात (खुदाई) कितनी और कैसी हो, यह बताया जा रहा है—

कुण्ड जिस आकार वाला हो, उसका खात (गर्त) भी उसी आकार का बनाना चाहिये। कुण्ड के गड्ढे या गहराई को 'खात' कहते हैं। कुण्ड की गहराई एक हाथ कुण्ड में जिनाङ्गुल (चौबीस अङ्गुल = एक हाथ) की रखनी चाहिये। यह गहराई भूमि से नीचे की ओर होनी चाहिये; परन्तु खुदाई करते समय यह ध्यान रखें कि गर्त की लम्बाई-चौड़ाई पाँच अङ्गुल अधिक रखें, जिसका उपयोग कुण्ड को पक्का करते समय ईंटें लगाने आदि में हो जायेगा और कुण्ड अभीष्ट प्रमाण में शेष रहेगा। यह पञ्चाङ्गुल भाग चारो ओर चौबीस अङ्गुल के अतिरिक्त ही खोदना चाहिये। कुण्ड पक्का करते समय भूमिस्तर पर चारो ओर एक अङ्गुल का कण्ठ छोड़ना चाहिये। कण्ठ को ही गल कहते हैं।

मेखला—कण्ठ के समीप चारो ओर चार अङ्गुल चौड़ी तथा नौ अङ्गुल ऊँची प्रथम मेखला बनावें। प्रथम मेखला के समीप चारो ओर तीन अङ्गुल चौड़ी तथा छः अङ्गुल ऊँची द्वितीय मेखला का निर्माण करें। यह मध्य में होती है। फिर द्वितीय मेखला की अपेक्षा और भी न्यून तृतीय मेखला बनावें, जो तीन अङ्गुल चौड़ी तथा तीन अङ्गुल ऊँची हो। यह मेखला सबसे नीचे होती है। इन मेखलाओं में उत्तरोत्तर ऊँचाई तथा आयाम में न्यूनता रहती है।

नाभि—नाभि को गर्तरूप गहरा बनाना चाहिये। उसकी गहराई धरातल से एक अङ्गुल गहरी हो तथा उसका क्षेत्रफल दो अङ्गुल का हो। मनुष्यों में नाभि का आकार जैसा होता है, वैसी ही नाभि बनानी चाहिये, वह गर्तरूपा हो।

पद्म कुण्ड में नाभि का निषेध—ग्रन्थकार कहते हैं—'नाब्जेऽब्जभावा' अर्थात् पद्म कुण्ड में नाभि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि वह तो स्वयं ही पद्माकार होता है। त्रैलोक्यसार ग्रन्थ में कहा है—'पद्मे नाभिं विवर्जयेत्'। इसी प्रकार शारदातिलक में कहा है—'पद्मे क्षेत्रस्य सन्त्यज्य'। विट्ठलदीक्षित ने भी कहा है—'कुण्डाकारो नाभिरम्भोज-साम्यो वाऽब्जेऽयं न......'। पद्म कुण्ड में नाभि के स्थान पर कर्णिका विद्यमान रहती है।

कुण्डों में योनि-निवेशन—एककुण्डी पक्ष में तीनों मेखलाओं के ऊपर पश्चिम दिशा में योनि बनानी चाहिये। योनि का दक्षिणोत्तर व्यास एक हाथ के कुण्ड में आठ अङ्गुल हो तथा पूर्व-पश्चिम लम्बाई नौ अङ्गुल होनी चाहिये। योनि के पीछे नाल (छिद्र) बनाना चाहिये। योनि इस प्रकार से बनानी चाहिये कि वह अग्र के द्वारा कुण्ड में प्रविष्ट होती-सी जान पड़े। इसीलिये कहा है—भुवाग्रेण कुण्डं विशन्ती'। योनि का आकार अश्वत्थपत्र या ताम्बूलपत्र की भाँति होना चाहिये।

योनि कुण्ड में योनि का निषेध—योनि कुण्ड में योनि नहीं बनानी चाहिये;

क्योंकि वह कुण्ड स्वयं योनिरूप होता है। अत: ग्रन्थकार ने 'भंग उपरि' वाक्यांश से योनि कुण्ड के ऊपर योनि लगाने का निषेध किया है।

मेखलाओं तथा योनि के सम्बन्ध में अग्निपुराण में निम्न विवेचन प्राप्त है—

तिर्यक्पातसमं खातमूर्ध्वं मेखलया सह।
तद्बहिर्मेखला तिस्रो वेदवह्नियमाङ्गुलैः।।

अङ्गुलैः षड्भिरेका वा कुण्डाकारस्तु मेखलाः।
तासामुपरि योनिः स्यान्मध्येऽश्वत्थदलाकृतिः।।

उच्छ्रयेणाङ्गुलं तस्माद् विस्तारेणाङ्गुलाष्टकम्।
दैर्घ्यं कुण्डार्धमानेन कुण्डं कण्ठसमोऽधरः।।

पूर्वाग्नियाम्यकुण्डानां योनिः स्यादुत्तरानना।
पूर्वानना तु शेषाणामैशान्येऽन्यतरा तयोः।।

अर्थात् खात के ऊपर बाहर की ओर तीन मेखलायें क्रमशः चार अङ्गुल, तीन अङ्गुल तथा दो अङ्गुल चौड़ाई की होनी चाहिये अथवा छः अङ्गुल की केवल एक मेखला भी बनाई जा सकती है।

मेखलाओं के ऊपर ठीक मध्य में अश्वत्थदल (पीपल के पत्ते) के समान आकार वाली योनि बनानी चाहिये। योनि ऊपर की मेखला से एक अङ्गुल ऊँची तथा आठ अङ्गुल चौड़ी होनी चाहिये। योनि की लम्बाई कुण्डार्द्ध के तुल्य (अर्थात् एक हाथ के कुण्ड में बारह अङ्गुल) होनी चाहिये। योनि का अधर कुण्ड के कण्ठ के समान (अर्थात् एक अङ्गुल ऊँचा) बनाना चाहिये। अधर का अर्थ ओठ या योनि की ऊँची परिधि ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार कुण्डार्क तथा अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अग्निपुराण में मेखला, योनि आदि के माप में कुछ अन्तर है। ऐसे मतान्तर शास्त्रों में स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं।

नवकुण्डी पक्ष में किस दिशा के कुण्ड की योनि किस दिशा में रखी जाये यह भी बताया गया है—

पूर्व दिशा, अग्नि कोण, याम्य (दक्षिण दिशा) के कुण्डों में योनि उत्तराभिमुख अर्थात् दक्षिण दिशा में बनानी चाहिये। ईशान कोण में योनि पूर्वाभिमुख (अर्थात् पश्चिम दिशा की भुजा पर) अथवा विकल्प से उत्तराभिमुख हो सकती है। शेष दिशाओं (नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य तथा उत्तर) के कुण्डों में योनि सदैव पूर्वाभिमुख ही बनानी चाहिये।

आगे पाठकों की सुविधा के लिये योनि-निवेशन के दिशा-निर्देश हेतु नवकुण्डी

पक्ष के अनुसार चक्र दिया जा रहा है; परन्तु ध्यान रहे कि योनिकुण्ड (आग्नेय दिशा) में योनि नहीं होती। वहाँ तो योनिकुण्ड ही बनाया जाता है। परन्तु अन्य कुण्ड बने, तब उत्तराभिमुख योनि होगी।

नवकुण्डी पक्ष में योनि-निवेशन का चक्र

पूर्व कुण्ड	आग्नेय कुण्ड	याम्य कुण्ड	नैर्ऋत्य कुण्ड	पश्चिम कुण्ड	वायव्य कुण्ड	उत्तर कुण्ड	ईशान कुण्ड	मध्य कुण्ड	कुण्ड का स्थान
उत्तराभिमुख	उत्तराभिमुख	उत्तराभिमुख	पूर्वाभिमुख	पूर्वाभिमुख	पूर्वाभिमुख	पूर्वाभिमुख	पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख	पूर्वाभिमुख	योनिमुख की दिशा
दक्षिणी मेखला	दक्षिणी मेखला	दक्षिणी मेखला	पश्चिमी मेखला	पश्चिमी मेखला	पश्चिमी मेखला	पश्चिमी मेखला	पश्चिमी मेखला अथवा दक्षिणी मेखला	पश्चिमी मेखला	योनि निवेशन की मेखला की दिशा

पङ्क्त्यर्कैरर्कशक्रैर्नृपतिधृतिकरैर्मण्डपोऽल्पः स सोऽग्र्य-
स्तुल्याम्भोदोष्णि खण्डा इह नव सुसमा माध्ययो वेदिरेषाम्।
हस्तोच्चा खण्डकोणेष्विभकरमुदरे पञ्चहस्तं बहिश्च
स्तम्भौघं द्व्यष्टसंख्यं भुवि शरलवतः खेयमन्यत्र चैवम्॥१०॥

कुण्डार्कोदया—अथ मण्डपं दर्शयति—**पङ्क्त्यर्कैरिति**। पङ्क्तिर्दश। अर्का द्वादश। दशहस्तप्रमाणे द्वादशहस्तप्रमाणे वा समचतुरस्रे भूभागे तावान्मण्डपश्चेत्सोऽल्पः। अर्का द्वादश। शक्राश्चतुर्दश। द्वादशहस्तप्रमाणे चतुर्दश हस्तप्रमाणे वा समचतुरस्रे भूभागे तावान्मण्डपश्चेत्सोऽल्पापेक्षयाऽग्र्यः श्रेष्ठः। मध्यम इत्यर्थः। तदपेक्षयाऽप्यग्र्यः श्रेष्ठो मण्डपो नृपतिधृतिकरैर्भवति। नृपतयः षोडश। धृतिरष्टादश। षोडशहस्तात्मकेऽष्टादशहस्तात्मके वा समचतुरस्रे भूभागे तावान्मण्डपश्चेत्स उत्तमः। स सोऽग्र्य इत्यत्र समोऽग्र्य इति पाठे मध्यमस्य सम इति संज्ञा। तुल्यः समा अम्भोदोषश्चतुर्बाहवो यत्र तादृशे। समचतुरस्र इति यावत्। तादृशे भूभागे सुसमा नव खण्डाः कार्याः। सुष्ठु समाः सुसमाः। साम्यं चाऽऽकारेण। तच्च नवानां खण्डानां मिथो ग्राह्यम्। प्रतियोगित्वेना-न्यस्यानुपस्थानात्। तेषु समेषु खण्डेषु सौष्ठवञ्च मण्डपभूभागवत्समचतुरस्रत्वेन। तेन दीर्घचतुरस्राः समा भागा न कर्तव्या भवन्ति; किन्तु समचतुरस्र एव। तथाहि—द्वादश-हस्तो मण्डपश्चेत्तत्र दक्षिणतश्चतुर्हस्तं भूभागं त्यक्त्वा प्राक्पश्चिमतो रेखा देया। पुनश्चतुर्हस्तं भूभागं त्यक्त्वा तथैव द्वितीया रेखा देया। एवं मध्ये रेखाद्वयदानेन भागत्रयं भवति। पुनश्च दक्षिणोत्तरं तथैव रेखाद्वयं देयम्। तथा सति प्रतिभागं पुनः प्रत्येकं भागत्रयमित्येवं नव खण्डाः

समा भवन्ति। तेषु मध्यमो खण्डो वेदिरित्युच्यते। तत्र कुण्डं नास्ति। नवकुण्डीपक्षेऽपि मध्यखण्डं वेदिरूपं विहाय परितोऽष्टसु खण्डेष्वेकैकं कुण्डं प्रागीशानखण्डयो: सन्धौ च नवमं भवति। अत्र द्वादशहस्तस्य मण्डपस्याल्पत्वं मध्यमत्वं चोक्तम्। तत्फलं चाग्रे द्वादशश्लोके येऽल्पस्य मध्यमस्य च मण्डपस्य धर्मा वक्ष्यन्ते। तेषामुभयेषामपि द्वादशहस्ते प्राप्तिर्भवति। तथा सति तत्र यजमानेन यथारुचि कर्तव्यमिति। **हस्तोच्चा।** मध्यगता वेदिश्च परितो यत्खण्डाष्टकं तदपेक्षयैकहस्तप्रमाणेनोन्नता। अत्र मण्डपार्थं षोडशस्तम्भा निखेया भवन्ति। तदुक्तं स्तम्भौघं द्व्यष्टसंख्यमिति। तत्रोदरे मण्डपमध्ये खण्डकोणेषु वेदिकोणचतुष्टये स्तम्भचतुष्टयमिभकरमष्टहस्तप्रमाणम्। बहिश्च स्तम्भद्वादशकं पञ्चहस्तप्रमाणम्। एतच्च यत्स्तम्भप्रमाणं दर्शितं तच्चूडाव्यतिरिक्तस्य। स्तम्भाग्रे चूडा तूक्तप्रमाणातिरिक्ता वलिकानुसारेणोन्नता कार्या। तत्र बाह्येषु द्वादशस्तम्भेषु प्रतिस्तम्भं चूडं वलिकात्रयं निवेश्यते। अन्तरेषु चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिस्तम्भचूडं वलिकाषट्कं निवेश्यते। यद्यपि स्तम्भानां वलिकानां च स्थौल्यस्य प्रमाणमत्र न प्रदर्शितं तथाऽपि तन्मण्डपदार्ढ्यानुसारेण स्वयमूहनीयम्। तथा च वलिकाप्रान्ते छिद्रस्थले वलिकास्थौल्यं द्व्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं वा स्यात्। तत्र द्व्यङ्गुलप्रमाणसत्वे वलिकात्रयनिवेशस्थले स्तम्भचूडोन्नति: षडङ्गुलाऽवश्यमपेक्ष्यते। वलिकाषट्कनिवेशस्थले तु द्वादशाङ्गुलाऽपेक्षते। वलिकास्थौल्यस्य न्यूनाधिकत्वे तु तदनुसारेण चूडोन्नतेरावश्यकत्वं कल्पनीयम्। शरलव: पञ्चमोंऽश:। सर्वं स्तम्भवृन्दं भुवि स्वकीयपञ्चमांशेन निखेयं भवति। अन्यत्र चैवम्। द्वादशश्लोके वक्ष्यमाणं शङ्खचक्रशूलादिकं यद्यत्र निवेश्यतयोक्तं तत्तत्र स्वकीयपञ्चमांशेन निवेश्यं भवतीत्यर्थ:।।१०।।

अर्कप्रभा—मण्डप-रचना-पद्धति—अब मण्डप के विस्तार के अनुसार मण्डप की संज्ञा का कथन किया गया है—

अल्प मण्डप—ग्रन्थकार के अनुसार समचतुरस्र भूभाग पर जो मण्डप दश हाथ का (१०×१० = १०० वर्ग हाथ) अथवा बारह हाथ का (१२×१२ = १४४ वर्ग हाथ) बनाया जाता है, उसे अल्पमण्डप कहा गया है।

मध्यम मण्डप—जो मण्डप बारह हाथ से ऊपर तथा चौदह हाथ तक बनता है अर्थात् जिसका क्षेत्रफल १४४ वर्ग हाथ से अधिक तथा (१४×१४ = १९६) एक सौ छियानबे वर्ग हाथ तक क्षेत्रफल वाला होता हैं, उसे मध्यम कहा जाता है। इसे सममण्डप भी कहते हैं।

अग्र्य मण्डप (उत्तम मण्डप)—यह नृपति (सोलह) या धृति (अट्ठारह) हाथ वाला होता है। इसमें क्षेत्रफल १६×१६ = २५६ अर्थात् २५६ वर्ग हाथ से अधिक होता है।

मण्डपों का विस्तार इससे भी अधिक हो सकता है; पर वे मण्डप विशाल मण्डपों की श्रेणी में आते हैं।

नवखण्ड विभाजन—मण्डप की भूमि को इन मण्डपों में नौ भागों में विभाजित करना चाहिये। एतदर्थ सर्वप्रथम जितनी माप का मण्डप बनाना हो, उतनी माप का वर्ग समतल भूमि पर बनावें। उस वर्ग के मध्य में दो रेखा पूर्व-पश्चिम तथा उसी प्रकार की दो रेखा उत्तर-दक्षिण देने से समान आकार के नौ खण्ड हो जाते हैं। मान लीजिये कि बारह हाथ का मण्डप बनाना है तो प्रथम दक्षिण दिशा से चार हाथ भूमि छोड़कर पूर्व से पश्चिम रेखा बनावें; फिर उससे चार हाथ के अन्तर पर दूसरी रेखा बनावें तो इस प्रकार मण्डप के तीन भाग होंगे। तदुपरान्त दो रेखायें चार-चार हाथ के अन्तर से उत्तर से दक्षिण की ओर बना देने से मण्डपभूमि का विभाजन नौ खण्डों में हो जाता है।

वेदी—इन नौ खण्डों में जो मध्यवर्ती खण्ड होता है, उसे 'वेदी' कहते हैं। वहाँ सामान्यतः कुण्ड नहीं बनाते; अपितु सर्वतोभद्रादि चक्र बनाते हैं या उसे वेदी-रूप में ऊँचा कर देते हैं। यह एक पक्ष है, जो ग्रन्थकार को अभीष्ट है। देवप्रतिष्ठा आदि में इसे रिक्त रख सकते हैं; परन्तु यहाँ अकारण कुण्ड न बनाना समीचीन नहीं होगा; अतः विकल्प से यहाँ भी कुण्ड बनाया जा सकता है।

नवकुण्डी पक्ष में मध्यम खण्ड को वेदी रूप में छोड़कर उसके चारो ओर के खण्डों में कुण्ड बना देते हैं तथा नवाँ कुण्ड पूर्वखण्ड तथा ईशानखण्ड के मध्य में बना देते हैं (अन्यथा वह खण्ड मध्य में वेदी न रखने पर मध्य में ही बनाना चाहिये)।

मध्यम को अल्प, मध्यम तथा उत्तम मान से कार्य की आवश्यकता यजमान का सामर्थ्य तथा आचार्य की रुचि में सामञ्जस्य करके बनाना चाहिये तथा मध्य में वेदी एक हाथ ऊँची बनानी चाहिये।

मण्डप-भूमि का नवखण्डात्मक विभाजन

ईशान	पूर्व	आग्नेय
उत्तर	मध्य वेदी	दक्षिण
वायव्य	पश्चिम	नैर्ऋत्य

स्तम्भ-निवेशन—नव खण्डात्मक मण्डप (यज्ञशाला) में सोलह स्तम्भों को गाड़ना चाहिये। उनमें मध्य वेदी के चारो कोनों पर चार खम्भे आठ हाथ की ऊँचाई वाले निवेशित करने चाहिये।

उन स्तम्भों का पञ्चमांश भूमि में गाड़ना चाहिये। पञ्चमांश का अर्थ आठ हाथ के स्तम्भ में एक हाथ तथा चौदह अङ्गुल (स्थूल मान से) होता है। इतना भूमि में गाड़ना चाहिये।

शेष बारह खम्भों की ऊँचाई पाँच-पाँच हाथ होती है जिनका पञ्चमांश (एक हाथ) भूमि में गाड़ा जाता है। शेष भाग ऊपर रहता है। स्तम्भों की मोटाई का प्रमाण ग्रन्थकार ने नहीं कहा है; अतः इनकी मोटाई इतनी हो कि स्तम्भ मण्डपाच्छादन के भार को धारण करने में समर्थ हो—ऐसा समझना चाहिये।

इन द्वादश स्तम्भों में चूड़ा (शिखर, जो कि नोंकदार होता है) बनाना चाहिये। स्तम्भों की लम्बाई में चूड़ा का प्रमाण अलग से होना चाहिये। चूड़ा की ऊँचाई-मोटाई वलिकाओं के प्रमाणानुसार होनी चाहिये।

वलिकायें—वल्लियों को 'वलिका' कहते हैं। बाहर के बारह स्तम्भों के चूड़ाओं में प्रति स्तम्भ तीन वल्लियाँ लगाई जानी चाहिये। भीतर के चार बड़े स्तम्भों में प्रति स्तम्भ के चूड़ा में छः वल्लियों को लगाना चाहिये। चूड़ा की मोटाई दो अङ्गुल तथा ऊँचाई छः अङ्गुल बाहर के बारह स्तम्भों में होना सुविधाजनक होगी तथा भीतरी चार स्तम्भों की चूडोन्नति बारह अङ्गुल अपेक्षित होती है।

आजकल स्तम्भों में चूड़ा न बनवाकर उन्हें रस्सी से बाँध देते हैं।।१०।।

विशेष—यहाँ पर ग्रन्थकार ने मण्डप के तीन भाग अर्थात् नौ खण्ड बताए हैं। इन्हें केवल बीस हाथ के लगभग तक के मण्डप के प्रयोजन से कहा है। अन्य ग्रन्थों में इनसे भी अधिक विशाल मण्डपों के निर्माण का विधान है। नवखण्ड विभाजित मण्डप में वलिकाकाष्ठों की संख्या बत्तीस (३२) या छत्तीस (३६) होती है। मण्डप को दृढ़ता प्रदान करने के लिये अधिक संख्या में भी काष्ठ लगाये जा सकते हैं।

विशाल यज्ञमण्डपों का निर्माण—ग्रन्थान्तरों में विशाल मण्डपों के लिये निम्न प्रकार की व्यवस्था निर्देशित की गई है—

(क) पञ्चविंशति खण्डात्मक मण्डप—बीस हाथ से ऊपर तथा अट्ठाईस हाथ तक के मण्डपनिर्माण में यज्ञभूमि के पाँच भाग करने चाहिये, जिसमें ५×५ = २५ कुल पच्चीस खण्ड होते हैं। इसमें चार स्तम्भ बड़े तथा ३२ स्तम्भ छोटे—इस प्रकार कुल छत्तीस स्तम्भ लगाये जाते हैं तथा ७२ वलिकायें लगती हैं।

स्तम्भ-निवेशन—नव खण्डात्मक मण्डप (यज्ञशाला) में सोलह स्तम्भों को गाड़ना चाहिये। उनमें मध्य वेदी के चारो कोनों पर चार खम्भे आठ हाथ की ऊँचाई वाले निवेशित करने चाहिये।

उन स्तम्भों का पञ्चमांश भूमि में गाड़ना चाहिये। पञ्चमांश का अर्थ आठ हाथ के स्तम्भ में एक हाथ तथा चौदह अङ्गुल (स्थूल मान से) होता है। इतना भूमि में गाड़ना चाहिये।

शेष बारह खम्भों की ऊँचाई पाँच-पाँच हाथ होती है जिनका पञ्चमांश (एक हाथ) भूमि में गाड़ा जाता है। शेष भाग ऊपर रहता है। स्तम्भों की मोटाई का प्रमाण ग्रन्थकार ने नहीं कहा है; अतः इनकी मोटाई इतनी हो कि स्तम्भ मण्डपाच्छादन के भार को धारण करने में समर्थ हो—ऐसा समझना चाहिये।

इन द्वादश स्तम्भों में चूड़ा (शिखर, जो कि नोंकदार होता है) बनाना चाहिये। स्तम्भों की लम्बाई में चूड़ा का प्रमाण अलग से होना चाहिये। चूड़ा की ऊँचाई-मोटाई वलिकाओं के प्रमाणानुसार होनी चाहिये।

वलिकायें—वल्लियों को 'वलिका' कहते हैं। बाहर के बारह स्तम्भों के चूड़ाओं में प्रति स्तम्भ तीन वल्लियाँ लगाई जानी चाहिये। भीतर के चार बड़े स्तम्भों में प्रति स्तम्भ के चूड़ा में छः वल्लियों को लगाना चाहिये। चूड़ा की मोटाई दो अङ्गुल तथा ऊँचाई छः अङ्गुल बाहर के बारह स्तम्भों में होना सुविधाजनक होगी तथा भीतरी चार स्तम्भों की चूडोन्नति बारह अङ्गुल अपेक्षित होती है।

आजकल स्तम्भों में चूड़ा न बनवाकर उन्हें रस्सी से बाँध देते हैं।।१०।।

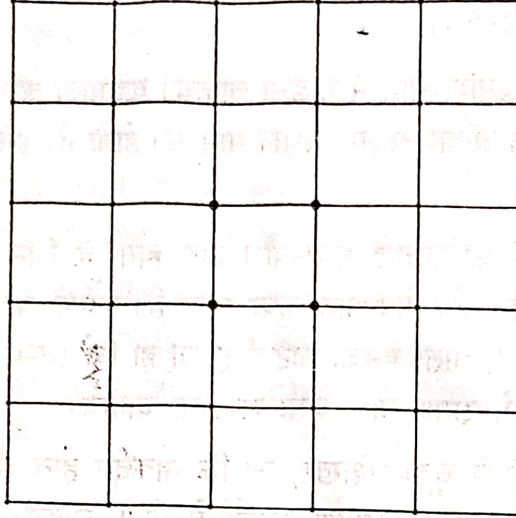
विशेष—यहाँ पर ग्रन्थकार ने मण्डप के तीन भाग अर्थात् नौ खण्ड बताए हैं। इन्हें केवल बीस हाथ के लगभग तक के मण्डप के प्रयोजन से कहा है। अन्य ग्रन्थों में इनसे भी अधिक विशाल मण्डपों के निर्माण का विधान है। नवखण्ड विभाजित मण्डप में वलिकाकाष्ठों की संख्या बत्तीस (३२) या छत्तीस (३६) होती है। मण्डप को दृढ़ता प्रदान करने के लिये अधिक संख्या में भी काष्ठ लगाये जा सकते हैं।

विशाल यज्ञमण्डपों का निर्माण—ग्रन्थान्तरों में विशाल मण्डपों के लिये निम्न प्रकार की व्यवस्था निर्देशित की गई है—

(क) पञ्चविंशति खण्डात्मक मण्डप—बीस हाथ से ऊपर तथा अट्ठाईस हाथ तक के मण्डपनिर्माण में यज्ञभूमि के पाँच भाग करने चाहिये, जिसमें ५×५ = २५ कुल पच्चीस खण्ड होते हैं। इसमें चार स्तम्भ बड़े तथा ३२ स्तम्भ छोटे—इस प्रकार कुल छत्तीस स्तम्भ लगाये जाते हैं तथा ७२ वलिकायें लगती हैं।

पञ्चविभागात्मक (२५ खण्डात्मक) **मण्डप**

सुश्लिष्टा (स्तम्भसंख्या ३६) **२१ हाथ से २८ हाथ तक**



(ख) ऊनपञ्चाशत् खण्डात्मक मण्डप—तीस से पचहत्तर हाथ के मण्डप में ७×७ = ४९ कुल उनचास खण्ड होते हैं। इसमें चौंसठ स्तम्भों का उपयोग होता है। इसमें १२८ वलिकायें लगती हैं।

सप्त विभागात्मक (४९ खण्डात्मक = पुष्पकमण्डप)

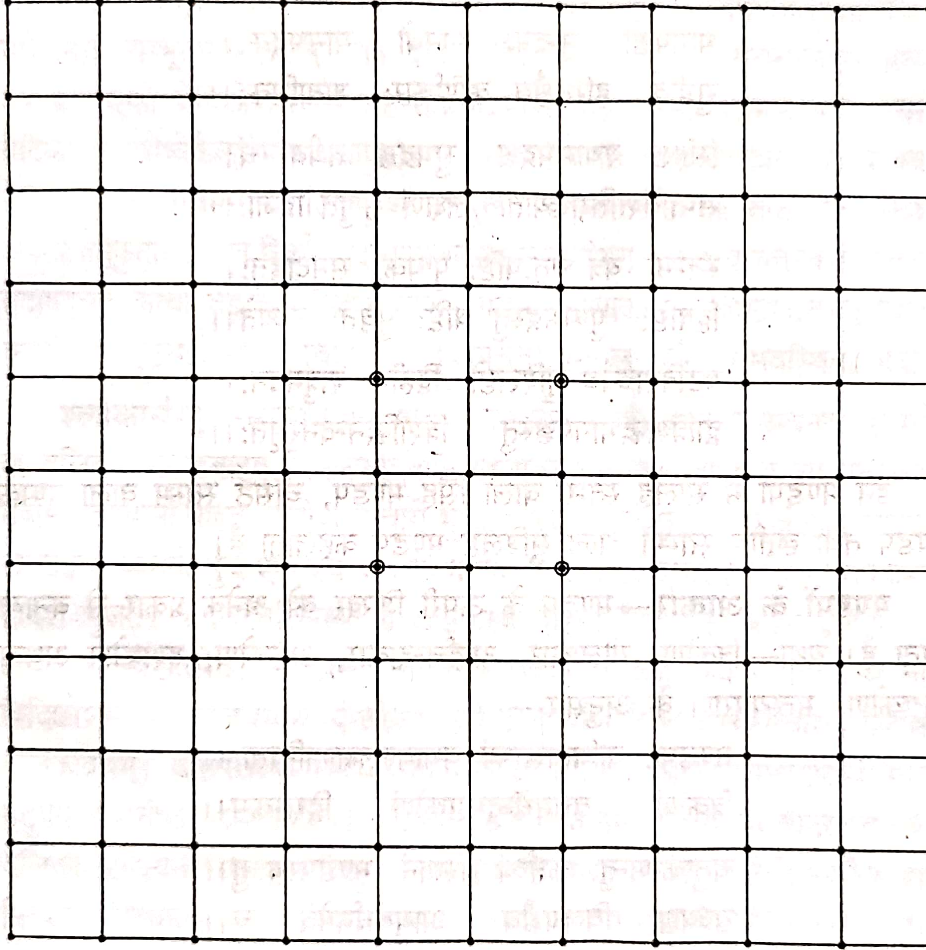
(स्तम्भसंख्या ६४)



(ग) शतखण्डात्मक मण्डप—इसको छिहत्तर हाथ से एक सौ हाथ तक बनाते हैं। इसमें १०×१० = १०० कुल एक सौ खण्ड होते हैं तथा ११×११ = १२१ एक सौ इक्कीस स्तम्भों का निवेशन होता है। इस मण्डप के शिखर में बीस तथा अन्य २२०; इस प्रकार २४० वल्लियों का उपयोग होता है।

शतखण्डात्मक मण्डप

११×११ = १२१ स्तम्भ



मण्डपभूमि के नाम—सात हाथ के मण्डप को 'एकभू' तथा आठ से लेकर अट्ठारह हाथ तक के मण्डप को 'द्विभू' कहा जाता है। बीस हाथ से अट्ठाईस हाथ तक के मण्डप को 'त्रिभू' तथा तीस से पचहत्तर हाथ तक के मण्डप को 'चतुर्भू' कहा जाता है। सौ हाथ के मण्डप को 'दशभू' कहते हैं।

सत्ताईस प्रकार के मण्डप—विभिन्न धर्मशास्त्रीय कृत्यों के लिये मत्स्यपुराण के दो सौ सत्तरवें (२७०) अध्याय में सत्ताईस प्रकार के मण्डपों का वर्णन है—

विविधाः मण्डपाः कार्याः ज्येष्ठमध्यमकनीयसः।
नामास्तान् प्रवक्ष्यामि शृणुध्वमृषिसत्तमाः।।

पुष्पकः पुष्पभद्रश्च सुवृतोऽमृतनन्दनः।
कौशल्यो बुद्धिसङ्कीर्णो गजभद्रो जयावहः।।

श्रीवत्सो विजयश्चैव वास्तुकीर्तिः श्रुतिञ्जयः।
यज्ञभद्रो विशालश्च सुश्लिष्टः शत्रुमर्दनः।।

भागपञ्चो नन्दनश्च मानवो मानभद्रकः।
सुग्रीवो हरितश्चैव कर्णिकारः शताधिकः।।

सिंहश्च श्यामभद्रश्च सुभद्रश्च तथैव च।
सप्तविंशतिराख्याता लक्षणं शृणुत द्विजाः।।

स्तम्भा यत्र चतुःषष्टिः पुष्पकः समुदाहृतः।
द्विषष्टिः पुष्पभद्रस्तु षष्टिः सुवृत उच्यते।।

षट्त्रिंशच्चैव सुश्लिष्टो द्विहीनः शत्रुमर्दनः।
द्वात्रिंशद्भागपञ्चस्तु त्रिंशद्भिर्नन्दनस्मृतः।।

इन मण्डपों में सोलह स्तम्भ वाला सिंह मण्डप, चौंसठ स्तम्भ वाला पुष्पक मण्डप तथा छत्तीस स्तम्भों वाला सुश्लिष्ट मण्डप कहलाता है।

मण्डपों के आकार—मण्डप के ऊपरी शिखर को अनेक प्रकार से बनाया जाता है। यथा—त्रिकोण, गोलाकार, अर्द्धचन्द्राकार, अष्टकोण, दशकोण अथवा चतुष्कोण। मत्स्यपुराण के अनुसार—

मण्डपाः कथितास्तुभ्यं यथावल्लक्षणान्विताः।
त्रिकोणं वृत्तमर्धेन्दुमष्टकोणं द्विरष्टकम्।।

चतुष्कोणन्तु कर्तव्यं संस्थानं मण्डपस्य तु।
राज्यञ्च विजयश्चैव आयुर्वर्धनमेव च।।

द्वात्रिंशत्स्तम्भचूडास्ववनय वलिकास्ता जिनाः खण्डबाहु-
ष्वष्टौ स्युर्मण्डपस्य श्रुतिषु सशिखरो मध्यभागोऽस्य यस्मात्।
दिक्षु द्वारो द्विहस्ता उपरि चतुरिभैरङ्गुलैरेधिताः स्यु-
रम्भास्तम्भध्वजाद्यैः कटपिहितममुं शोभयाम्भोघटाद्यैः ।।११।।

कुण्डार्कोदया—अथ स्तम्भोच्छ्रायानन्तरं कर्तव्यमाह—**द्वात्रिंशदिति**। स्तम्भचूडा स्तम्भाग्रम्। तक्षणेन तनूकृतम्। 'कुसू' इति प्रसिद्धम्। वलिका स्तम्भद्वयोपरि दीयमानः

काष्ठखण्डविशेषः 'पाखाडी' इति प्रसिद्धः। ताश्च वलिका द्वात्रिंशत्। तत्राष्टाविंशतिर्वलिका उभयतः सच्छिद्राः। चतस्रश्च वलिका एकतः सच्छिद्राः, अपराग्रे स्तम्भवत्कृतचूडास्तनुकृताग्राः। उभयतः सच्छिद्रायां वलिकायामेकस्मिंच्छिद्र एकस्तम्भाग्रं प्रवेश्यापरच्छिद्रे द्वितीयस्तम्भाग्रं प्रवेशनीयम्। एवमेकैकया वलिकया स्तम्भद्वयं ग्रन्थनीयम्। तथा च चत्वारो वेदिकोणस्तम्भाश्चतसृभिर्वलिकाभिर्ग्रथिता भवन्ति। बाह्या द्वादशस्तम्भाश्च द्वादशभिर्वलिकाभिर्ग्रथिता भवन्ति। एताः षोडशवलिकाः साम्येनावस्थिता भवन्ति। एकस्या वलिकाया अग्रद्वयमध्य ऊर्ध्वाधरभावाभावः साम्यम्। अपराश्च षोडशवलिकास्तथाऽवस्थिता भवन्ति यथैकमग्रं न्यग्भूतमपरमुन्नतम्। तत्र द्वादशभिर्वलिकाभिः प्रत्येकं यत्स्तम्भद्वयं ग्रथ्यते तत्र द्वय एको वेदिकोणस्तम्भोऽष्टहस्तोन्नतोऽपरश्च बाह्यस्तम्भः पञ्चहस्तोन्नतः। चतुर्षु वेदिकोणस्तम्भेष्वेकैकस्मिन्वेदिकोणस्तम्भे तत्समीपवर्ति बाह्यस्तम्भत्रयं वलिकात्रयेण ग्रथितं भवति। एवमष्टाविंशतिर्वलिका उपयुक्ताः। अवशिष्टाश्चतस्रः ताश्चैकतः सच्छिद्रा अपरत्र तनूकृताग्राः। तत्र च्छिद्रे वेदिकोणस्तम्भाग्रं प्रवेशनीयम्। अपरं च यत्तनूकृतं वलिकाग्रं तदीषदुन्नतं कृत्वा गडुच्छिद्रे प्रवेशनीयम्। गडुर्हि कुम्भाकारः सशिखरश्चतसृषु विदिक्षु कृतच्छिद्रचतुष्टयः। स च स्वप्रविष्टवलिकाग्रचतुष्टयमवल-म्ब्यैवोर्ध्वमवस्थितो भवति।

श्लोकार्थस्तु—स्तम्भचूडासु षोडशस्तम्भाग्रेषु द्वात्रिंशद्वलिका अवनय संगमय। ता वलिकाः खण्डबाहुषु जिनाश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याका भवन्ति। खण्डानां समचतुरस्राणां नवानां खण्डानां बाहवः प्रत्येकं चत्वारो भुजाः। यद्यपि तेषां सङ्ख्या षट्त्रिंशद्भवेत्तथाऽपि खण्डद्वयमध्यगतो भुज एक एव द्वयोरपि मर्यादां प्रदर्शयति। एतादृशाश्च खण्डनवकमध्ये द्वादश भुजाः। वेदिव्यतिरिक्तस्य खण्डाष्टकस्य बाह्यमर्यादादर्शका बाह्या द्वादश भुजा इत्येवं चतुर्विंशतिरेव। मण्डपस्य श्रुतिषु कर्णेष्वष्टौ वलिकाः स्युः। मण्डपस्य बाह्यं विदिक्कोणमारभ्य मण्डपमध्यपर्यन्तरेखा कर्ण इत्युच्यते। ते च कर्णाश्चत्वारः। प्रतिकर्णं वलिकाद्वयम्। बाह्यस्तम्भमारभ्याऽऽन्तरस्तम्भपर्यन्तमेका। आन्तरस्तम्भमारभ्य मध्यगडुपर्यन्तं द्वितीया। यस्मात्सशिखरः शिखरसहितो मध्यभागः कर्तव्यो भवत्यतस्तावत्पर्यन्तं वलिका अपेक्ष्यन्ते। चतसृषु दिक्षु चतस्रो द्वारो द्विहस्ताः कार्याः। प्रतिदिशमेकैकं द्वारमित्यर्थः। तच्चाल्पे मण्डपे द्विहस्तायामम्। मध्यमे मण्डपे चतुर्भिरङ्गुलैरेधितव्यम्। उत्तमे मण्डपेऽष्टभिरङ्गुलैरेधितव्यम्। मध्यमे मण्डपे द्वारस्याऽऽयामोऽङ्गुलचतुष्टयाधिकहस्तद्वयसम्मितः। उत्तमेऽङ्गुलाष्टकसहितहस्तद्वयसम्मितः। उन्नतिस्तु द्वारस्य वलिकापर्यन्तैव। इयञ्च वलिका मण्डपवलिकातो भिन्ना मण्डपवलिकाया अधस्तान्मण्डपवलिकासंयुक्तैव देया। न चैतत् परिमाणं द्वारस्य यदुक्तं तद्द्वारोन्नतेः कुतो न स्यादिति वाच्यम्। अल्प-समाग्र्यभेदेन त्रिविधेऽपि मण्डपे मण्डपोन्नतिरेकविधैवेति। तत्र द्वारोन्नतेर्मण्डपभेदेन त्रिविधत्वस्यानुचितत्वात्। मण्डपस्याऽऽयामस्तु मण्डपभेदेन त्रिविधो भवतीति तदनुसारेण द्वारायामस्य त्रैविध्यं वक्तुमुचितमिति बोध्यम्। अमुं मण्डपं कटेन पिहितमाच्छादितं रम्भास्तम्भ-

ध्वजाद्यैरम्भोघटाद्यैश्च शोभय। द्वारस्तम्भेषु रम्भा ध्वजादयश्च संयोजनीयाः। तेन बाह्यशोभा सम्पद्यते। अम्भोघटा उदकपूर्णघटाः। तदाद्यैर्मङ्गलवस्तुभिरान्तरशोभा सम्पादनीयेत्यर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्। द्वात्रिंशद्वलिकासु काश्चित्कोटिद्वये वैषम्येणावस्थिता भवन्ति। एका कोटिरुन्नतापरा न्यग्भूता मासां ता विषमा इत्युच्यते। अन्याः समाः। तथा यासां वलिकानां कोटिद्वयं विदिक्कोणे भवति, ता वक्रा इत्युच्यन्ते। अन्याः सरलाः। तत्र समाः षोडश विषमाश्च षोडश। सरलाश्चतुर्विंशतिर्वक्रा अष्टौ। उभयतश्छिद्रा अष्टाविंशतिः। एकतच्छिद्रा अन्यतस्तनूकृताग्राश्चतस्रः।

अथ तासां प्रमाणमुच्यते। उभयतश्छिद्राः सरलाः समाश्च याः षोडशवलिकारताः खण्डप्रमाणाः उदाहरणार्थं द्वादशहस्तो मण्डपो ग्राह्यः। तत्र हस्तचतुष्टयप्रमाणाः। छिद्रद्वयान्तरप्रमाणमेतत्। याश्चोभयतश्छिद्राः सरला विषमा अष्टौ वलिकास्ताः सप्तयवाधिकपञ्चदशाङ्गुलयुतहस्तचतुष्टयसम्मिताः। याश्चोभयतश्छिद्रा वक्रा विषमाश्च चतस्रो वलिकास्ता यवत्रयसहिताङ्गुलत्रययुतहस्तषट्कसम्मिताः। यास्त्वेकतच्छिद्रा वक्रा विषमाश्च शिखरगडुप्रविष्टाश्चतस्रो वलिकास्ता यवपञ्चकसहितैकाङ्गुलयुतहस्तत्रयप्रमाणा भवन्ति।।११।।

अर्कप्रभा—स्तम्भचूड़ाओं पर वलिकाओं का स्थापन—स्तम्भ के ऊपरी भाग को स्तम्भचूड़ा कहते हैं। इसे बढ़ई के द्वारा छील कर ऊपर की ओर पतला (कील जैसा) बनाया जाता है। इसे हिन्दी में 'चूड़िया' या 'चूरिया' तथा मराठी में 'कुसू' कहा जाता है। दो स्तम्भों के चूड़ाओं पर छेदों के द्वारा संयोजित होने वाली लकड़ी वलिका कहलाती है। इसे हिन्दी में बल्ली, पखिया, पाखरी तथा मराठी में 'पाखाडी' कहते हैं। ये वलिकायें बत्तीस होती है। इनमें अट्ठाईस वल्लियाँ दोनों सिरों पर आर-पार छेदवाली तथा चार वल्लियाँ एक ओर छेद वाली होती हैं तथा उनके दूसरी ओर नोंकदार चूड़ा होता है। दोनों ओर छेद वाली वल्लियों का एक छेद एक स्तम्भ के अग्र (चूड़ा) में प्रविष्ट कर दूसरे सिरे के छेद को दूसरे स्तम्भ के अग्र में प्रविष्ट करना चाहिये। इस प्रकार एक-एक वलिका से दो-दो स्तम्भों को बाँधना (जोड़ना) चाहिये। इस भाँति वेदिका-कोण के चारो स्तम्भों को चार वलिकाओं द्वारा जोड़ दिया जाता है। बाहर के द्वादश स्तम्भ बारह वलिकाओं द्वारा संयोजित कर दिये जाते हैं। ये सोलह वलिकायें साम्य रूप से अवस्थित होती हैं। किसी वलिका के दोनों अग्र (सिरे या छोर) समतल भूमि से समान ऊँचाई पर होते हैं; अतः उन्हें साम्य-वस्थित कहा जाता है; किन्तु शेष जो सोलह वलिकायें होती हैं, उनमें से बारह का एक अग्र (छोर) पाँच हाथ वाले स्तम्भ में नीचा रहता है; जबकि दूसरा अग्र आठ हाथ वाले स्तम्भ में लगने से लगभग १४ अङ्गुल या अधिक ऊँचा रहता है। शेष चार वलिकाओं का एक छेद तो आठ हाथ वाले वेदिकाकोण के स्तम्भों में प्रविष्ट रहता है तथा दूसरी ओर के नोंकदार अग्रों को 'गडुक' (स्वर्णकलश) अर्थात् धातु आदि से निर्मित कलश

के छिद्र में प्रविष्ट कर दिया जाता है। दूसरा सिरा भी ऊँचा रहता है; अत: ये सोलह वलिकायें वैषम्य में अवस्थित रहती हैं। ऊपर की चार वलिकाओं से मण्डप का शिखर भाग निर्मित होता है।

गडुक—वह कलश है, जो शिखर पर रखा जाता है तथा जिसके चारो ओर चार छेदों में चार वल्लियों के ऊपरी नोंकदार अग्र प्रविष्ट कर दिये जाते हैं।

श्लोकार्थ—१६ स्तम्भों के चूडाओं पर बत्तीस (३२) बल्लियाँ लगाकर उन्हें जोड़िये। ये वलिकायें नौ खण्डों की भुजाओं (जो खड़िया आदि से भूमि पर रेखाङ्कित होती हैं) उनकी सङ्ख्या चौबीस होती है। वर्गाकार नौ खण्डों की प्रत्येक की चार भुजा होती है। यद्यपि उन भुजाओं की सङ्ख्या छत्तीस होती है; परन्तु भीतर की ओर प्रत्येक खण्ड की भुजायें संयुक्त होने से उनमें दो के स्थान पर एक ही वल्ली से काम चल जाता है। इस प्रकार के नौ खण्डों में बीच में बारह भुजायें होती हैं। वेदी को छोड़कर शेष आठ खण्डों की बाह्य सीमा प्रदर्शित करने वाली बारह भुजायें होती हैं। अत: उनकी बारह वल्लियाँ हुईं। अत: यह सङ्ख्या (१२+१२ = २४) चौबीस होती हैं। मण्डप के कर्णों में आठ वलिकायें होती हैं। कोने की वलिका कर्ण होती है। ये कर्ण चार होते हैं। प्रत्येक कर्ण में दो वल्लियाँ लगती हैं। बाह्य स्तम्भ से आरम्भ कर अन्त:स्तम्भपर्यन्त एक-एक वलिका तथा अन्त:स्तम्भ से गडुकपर्यन्त एक-एक वलिका—इस प्रकार चार कोणों में आठ कर्णवलिकायें होती हैं; क्योंकि शिखरसहित मध्य भाग के लिये भी वलिकायें अपेक्षित होती हैं।

द्वार-व्यवस्था—पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण—इन चारो दिशाओं में एक-एक द्वार बनाना चाहिये। अब यदि मण्डप अल्पसंज्ञक है तो उसमें दो हाथ चौड़ा द्वार बनायें। यदि मध्यम मण्डप है तो द्वार की चौड़ाई दो हाथ तथा चार अङ्गुल हो। उत्तम मण्डप में द्वार की चौड़ाई आठ अङ्गुल बढ़ा देनी चाहिये अर्थात् चौड़ाई दो हाथ तथा आठ अङ्गुल होना चाहिये। द्वार की ऊँचाई सभी प्रकार के मण्डपों में वलिका की ऊँचाई-पर्यन्त ही रहेगी; परन्तु द्वार की वलिका मण्डपवलिका से भिन्न रहेगी और उसके साथ ही संयुक्त होगी। द्वार की ऊँचाई की भिन्नता चारो दिशाओं में स्थापित मण्डप की वल्लियों के कारण सम्भव नहीं होती है। अत: उत्तम, मध्यम या अधम कैसा भी मण्डप हो, द्वारों की ऊँचाई समान ही रहेगी।

मण्डपाच्छादन—इस प्रकार से निर्मित मण्डप को कट (ज्वार-बाजरे की कड़वी, अरहर की खाड़ू, सरपत, चटाई आदि) से आच्छादित करना चाहये। फिर उसे केले के खम्भे, पञ्चपल्लव, ध्वजा-पताकाओं तथा जलपूर्ण घटों से सुशोभित करना चाहिये (रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्रादि का उपयोग भी आवश्यकतानुसार कर सकते हैं, परन्तु वस्त्र झीना

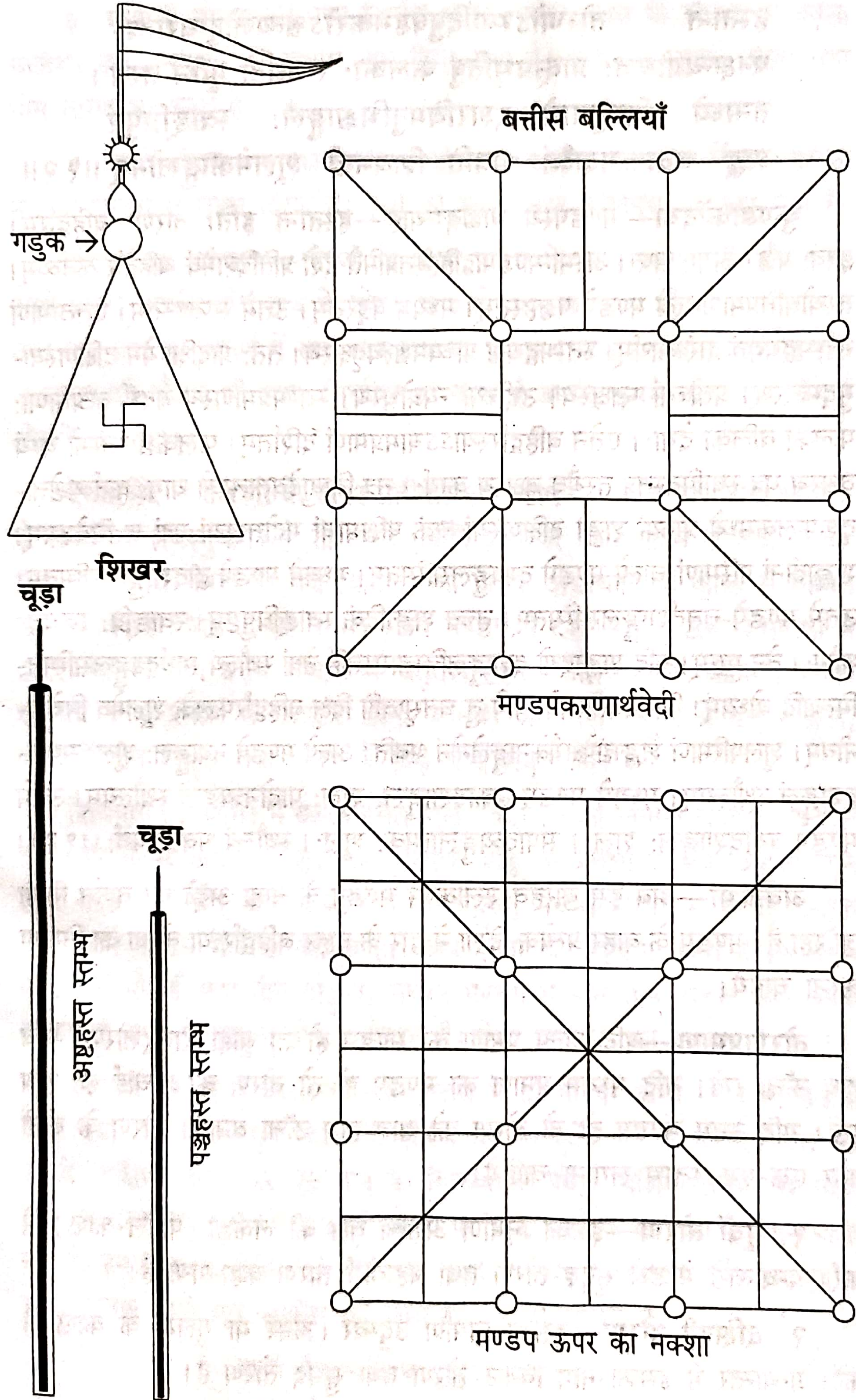
होना चाहिये)। द्वारस्तम्भों को भी कदलीस्तम्भों से सुशोभित करें तथा ध्वजादि लगावें। इससे बाह्य शोभा बढ़ जाती है। उदककुम्भों से यज्ञशाला के भीतर की शोभा बनती है तथा मङ्गल होता है।

और अधिक शोभा-वृद्धि के लिये मण्डप के भीतर-बाहर भगवान् राम, कृष्ण आदि चौबीस अवतारों तथा हिन्दू सन्तों के प्राचीन चित्र लगाये जा सकते हैं। नेताओं के चित्र कदापि नहीं लगाने चाहिये।

स्पष्टीकरण—अब ऊपर की व्याख्या को पुनः स्पष्ट किया जा रहा है। बत्तीस वलिकाओं में कुछ अपनी दोनों कोटियों में विषमता से अवस्थित होती हैं। एक कोटि ऊँची तथा दूसरी नीची होती है, इसलिये इनको विषमावस्थित कहा गया है। अन्य वल्लियाँ समावस्थित होती हैं। उन वलिकाओं में जिनकी दोनों कोटियाँ विदिक्कोणों (ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य तथा वायव्य) में होती हैं, उनको 'वक्रा' कहते हैं। शेष वलिकायें 'सरला' कही जाती हैं। उनमें सोलह वलिका समा तथा सोलह विषमा कहलाती हैं। सरला चौबीस तथा विषमा आठ होती हैं। दोनों ओर जिनमें छेद होता है, ऐसी वल्लियाँ अट्ठाईस होती हैं। एक ओर छिद्र वाली तथा दूसरे सिरे पर तनूकृताग्रा (नोंकदार) वल्लियों की संख्या चार होती है।

अब वल्लियों की माप भी समझ लीजिये। दोनों छोरों पर सच्छिद्रा, सरला, समा—जो सोलह बलिका होती हैं, वे खण्डप्रमाण के अनुरूप होती हैं। उदाहरणार्थ बारह हाथ के मण्डप में नौ खण्ड चार-चार हाथ के होने से वल्ली भी चार हाथ लम्बी होनी चाहिये। यदि अट्ठारह हाथ का मण्डप है तो नौ खण्डों में प्रत्येक खण्ड छः हाथ का होगा। अतः वल्ली भी छः हाथ लम्बी होनी चाहिये। पर इनमें जो एक ओर छेद वाली वल्लियाँ हैं, उनमें प्रमाण बारह हाथ के मण्डप में शिखर पर लगेंगी। वे तीन हाथ एक अङ्गुल तथा पाँच यव प्रमाण की होंगी एवं शेष बल्लियों को दोनों ओर छेदों की गुञ्जाइश के कारण चार हाथ से अधिक अर्थात् चार हाथ, पन्द्रह अङ्गुल तथा सात यव होना चाहिये। उनकी संख्या आठ है तथा चार वलिकायें बारह हाथ के मण्डप होने पर छः हाथ, तीन अङ्गुल तथा तीन यव होनी चाहिये; क्योंकि इनको कर्णों में लगाया जाता है।

(इस प्रकार बल्लियों की माप का निर्द्धारण कर लें; परन्तु सम्प्रति व्यवस्था न होने से जो यज्ञ हो रहे हैं, उनमें वल्लियों को खम्भों से बाँधकर काम चलाते हैं। अतः रस्सी से सिरे बाँधने के लिये उनकी लम्बाई यहाँ कहे गये प्रमाण से अधिक ही होनी चाहिये। जब वल्लियाँ किराये पर ली गयी हों तथा खम्भे भी किराये पर लिये गये हों तो उनमें न तो चूड़ा होते हैं और न ही छेद हो सकते हैं; अतः बाँधकर ही काम चलाना पड़ता है तब अङ्गुल तथा यव की माप अव्यावहारिक ही रहती है)।।११।।



गडुक
शिखर
चूड़ा
अष्टहस्त स्तम्भ
चूड़ा
पञ्चहस्त स्तम्भ
बत्तीस बल्लियाँ
मण्डपकरणार्थवेदी
मण्डप ऊपर का नक्शा

हस्तान्ते तोरणोऽस्मादिषुषडगकरोऽश्वत्थजोदुम्बरोत्थ-
प्लक्षन्यग्रोधजः प्राक्प्रभृतिषु फलकाः स्वार्धतो मूर्ध्नि तस्य।
तन्मध्ये विष्णुयागे दशरविमनुभिश्चाङ्गुलैः स्वाङ्घ्रिपुष्टं
शङ्खं चक्रं गदाब्जं भवति शिवमखे शूलमेकाङ्गुलोनम् ॥१२॥

कुण्डार्कोदया—मण्डपस्य बाह्याङ्गान्याह—**हस्तान्त इति।** तोरणो बहिर्द्वारम्। इषवः पञ्च। अगाः सप्त। अस्मान्मण्डपाद्बहिर्हस्तप्रमिते देशे प्रतिदिशमेकं बहिर्द्वारं कर्तव्यम्। तस्योन्नतिप्रमाणमल्पे मण्डपे पञ्चहस्तम्। मध्यमे षड्ढस्तम्। उत्तमे सप्तहस्तम्। एतत्प्रमाणं स्तम्भद्वययुतं द्वारं कार्यम्। स्तम्भद्वयञ्च प्राच्यमश्वत्थवृक्षस्य। ततः प्रादक्षिण्येन दक्षिणस्या-मुदुम्बरस्य। प्रतीच्यां प्लक्षस्य। उदीच्यां न्यग्रोधस्य। स्तम्भप्रमाणस्य यदर्धं तत्प्रमाणाः फलका वलिका देयाः। एतेन बहिर्द्वारस्याऽऽयामप्रमाणं दर्शितम्। फलकश्च स्तम्भो यस्य वृक्षस्य यत्र स्थापितस्तत्र तस्यैव वृक्षस्य कार्यः। तत्र विष्णुदेवतात्मको यागः कर्तव्यश्चेत्ता-दृशफलकमध्ये प्राच्यां शङ्खो दक्षिणस्यां चक्रं पश्चिमायां गदोत्तरस्यां पद्मं च निवेश्यम्। शङ्खादीनां परिमाणं चाल्पे मण्डपे दशाङ्गुलसम्मितम्। मध्यमे मण्डपे द्वादशाङ्गुलसम्मितम्। उत्तमे मण्डपे चतुर्दशाङ्गुलसम्मितम्। तच्च शङ्खादिकं स्वाङ्घ्रिपुष्टम्। स्वाङ्घ्रिः स्वचतु-र्थांशः। तेन पुष्टम्। यदि शङ्खादयो दशाङ्गुलविस्तारास्तर्हि तेषां स्थौल्यं सार्धद्व्यङ्गुलसम्मित-मित्यादि बोध्यम्। शिवदेवतात्मके यागे तु चतसृष्वपि दिक्षु बहिर्द्वारफलके शूलमेव निवेश-नीयम्। शूलपरिमाणं शङ्खाद्यपेक्षयैकेनाङ्गुलेनोनं भवति। अल्पे मण्डपे नवाङ्गुलः शूलः सपाद-द्व्याङ्गुलं स्थौल्यम्। मध्यमे मण्डप एकादशाङ्गुलः शूलः पादोनत्र्यङ्गुलं स्थौल्यम्। उत्तमे मण्डपे त्रयोदशाङ्गुलः शूलः। सपादत्र्यङ्गुलात्मकः शूलः। स्थौल्यं भवतीत्यर्थः।।१२।।

अर्कप्रभा—अब इस बारहवें श्लोक में मण्डप के बाह्य अङ्गों का वर्णन किया जा रहा है। मण्डप के बाहर प्रत्येक दिशा में द्वार के बाहर बहिर्द्वार या तोरण का निर्माण करना चाहये।

तोरणप्रमाण—यदि अल्प प्रमाण का मण्डप हो तो बाह्य द्वार (तोरण) पाँच हाथ ऊँचा रखें। यदि मध्यम प्रमाण का मण्डप हो तो तोरण की ऊँचाई छः हाथ रखें। यदि उत्तम मण्डप हो तो तोरण को सात हाथ ऊँचा बनावें। तोरण के दोनों ओर एक-एक स्तम्भ लगाना चाहिये।

१. पूर्वी तोरण—इसका निर्माण अश्वत्थ वृक्ष की लकड़ी (पीपल-काष्ठ) से करें। ग्रन्थान्तरों में इसे सुदृढ़ तोरण तथा महावीर्य तोरण कहा गया है।

२. दक्षिणी तोरण—इसका निर्माण उदुम्बर (ऊमर या गूलर) के काष्ठ से करें। ग्रन्थान्तर में इसका नाम विकट तोरण तथा सुभद्र तोरण है।

३. पश्चिमी तोरण—इसका निर्माण प्लक्ष (पाकर) वृक्ष के स्तम्भों से करना चाहिये। इसे ग्रन्थान्तरों में सुभीम नाम दिया गया है। इसी को सुकर्म तोरण तथा भीम तोरण भी कहते हैं।

४. उत्तरी तोरण—इसका निर्माण न्यग्रोध (वटवृक्ष) के स्तम्भद्वय से करें। इसका नाम ग्रन्थान्तरों में सुप्रभ तोरण है। इसी को सुहोत्र तथा शशिप्रभ भी कहा गया है।

तोरणों का आयाम—तोरणों के ऊपर पाटने के लिये स्तम्भ की ऊँचाई के आधे प्रमाण अर्थात् पाँच हाथ के तोरण में ढाई हाथ, छः हाथ ऊँचाई में तीन हाथ तथा सात हाथ की ऊँचाई में साढ़े तीन हाथ का फलक (पटना) लगाना चाहिये। इसी से तोरण की चौड़ाई भी स्वतः निर्धारित हो जाती है अर्थात् इससे कुछ न्यून चौड़ाई तोरणों में रहेगी।

देवताभेद से तोरणों के ऊपर प्रतीकों की स्थापना—यदि यज्ञ विष्णु भगवान् से सम्बन्धित (विष्णुयाग) हो तो उसमें पूर्वादि द्वारों पर प्रदक्षिणक्रम से शङ्ख, चक्र, गदा तथा उत्तरी तोरण पर पद्म (कमल) का प्रतीक अश्वत्थादि के काष्ठ से निर्मित कर लगावें। इन शङ्खादि का प्रमाण अल्प मण्डप में दश अङ्गुल, मध्यम मण्डप में द्वादश अङ्गुल तथा उत्तम मण्डप में चतुर्दश (१४) अङ्गुल होना चाहिये। इनकी स्थूलता उनके प्रमाण से चतुर्थांश होनी चाहिये। जैसे दश अङ्गुल में ढाई अङ्गुल, बारह में तीन अङ्गुल तथा चौदह में साढ़े तीन अङ्गुल हो।

शिवयाग (रुद्रयाग) में काष्ठनिर्मित शूल (त्रिशूलों) को लगाना चाहिये। ये शूल चारो तोरणों पर लगेंगे। त्रिशूल का परिमाण शङ्ख के प्रमाण से एक अङ्गुल न्यून होना चाहिये। अर्थात् अल्प मण्डप में नौ अङ्गुल, मध्यम मण्डप में ग्यारह अङ्गुल तथा उत्तम मण्डप में तेरह अङ्गुल हो। अब शूलों की स्थूलता कहते हैं कि उत्तम मण्डप में मोटाई सवा तीन अङ्गुल, मध्यम मण्डप में पौने तीन अङ्गुल तथा अल्प मण्डप में सवा दो अङ्गुल होना अपेक्षित है। ऐसा ग्रन्थकार का आशय है।।१२।।

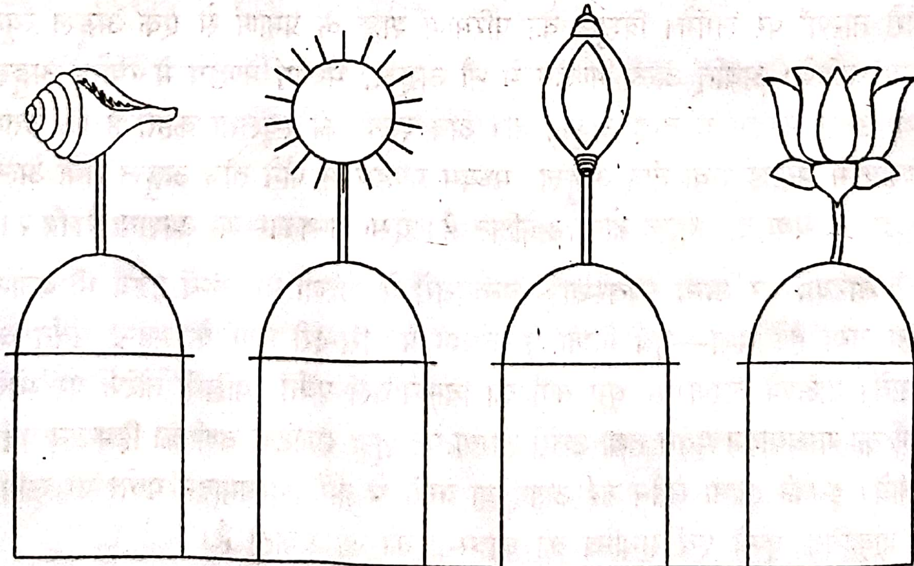
तोरणों पर अन्य व्यवस्था—ग्रन्थान्तरों में तोरणों पर अन्य दृश्य भी बनाना कहा गया है। यथा—पूर्व दिशा के तोरण पर सिन्दूरी वर्ण के महेन्द्र पर्वत को बनावें। दक्षिणी तोरण पर धूम्र वर्ण का विन्ध्याचल पर्वत, पश्चिमी तोरण पर स्वर्ण वर्ण का गन्धमादन पर्वत तथा उत्तरी तोरण पर शुद्ध स्फटिक वर्ण का हिमवान पर्वत बनावें। इनकी रचना रंगीन रुई आदि या वस्त्रों से करें। गन्धमादन पर्वत पर कृत्रिम या प्राकृतिक पुष्पों एवं सुगन्धि की व्यवस्था की जा सकती है।

प्राचीं दिशमाश्रित्य सुदृढो नाम तोरणः।
महावीर्य-महाकाय-इन्द्रायुध-समप्रभः ।।

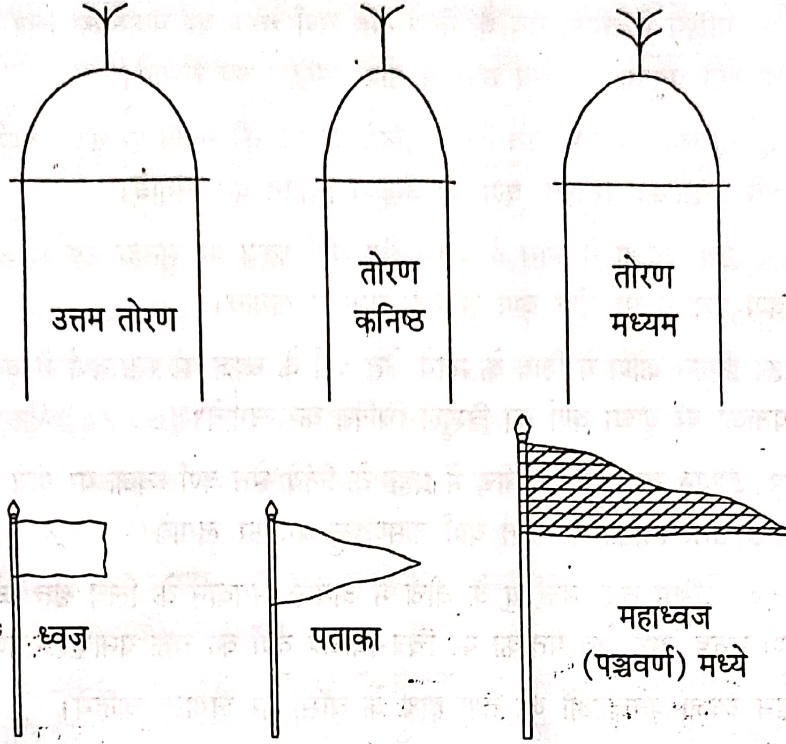
औदुम्बरञ्च विकटं याम्ये तोरणमुत्तमम्।
प्लाक्षं हि पश्चिमे भीमं तोरणं स्वर्णसन्निभम्।।
न्यग्रोधतोरणमिव उत्तरे च शशिप्रभम्।।

तोरणों के नाम-रूपादि का सूचक चक्र

(१) पूर्व	(२) दक्षिण	(३) पश्चिम	(४) उत्तर	तोरण की दिशा
सुदृढ़ तोरण	विकट तोरण	सुभीम तोरण	सुप्रभ तोरण	तोरण का नाम
महावीर्य सुवीर्य	सुभद्र	सुकर्म भीम	सुहोत्र शशिप्रभ	अन्य ग्रन्थों में नामान्तर
अश्वत्थ	उदुम्बर	प्लक्ष	न्यग्रोध	प्रयुक्त काष्ठ
सिन्दूरवर्णी महेन्द्र पर्वत	धूम्र वर्ण का विन्ध्याचल	स्वर्ण वर्ण का गन्धमादन	स्फटिक वर्ण हिमवान् पर्वत	वर्ण एवं पर्वत
शंख	चक्र	गदा	पद्म	विष्णुयाग में प्रतीक
त्रिशूल	त्रिशूल	त्रिशूल	त्रिशूल	शैव व शक्ति-याग में प्रतीक



शङ्ख **चक्र** **गदा** **पद्म**



ध्वजा एवं पताका—इस ग्रन्थ में न तो ध्वजा एवं पताकाओं का वर्ण सूचित किया गया है और न ही अन्य देवादि की सूचना है। तान्त्रिक यज्ञों में ध्वजाओं एवं पताकाओं को वर्ण, आकार, चित्र आदि के सहित लगाते हैं। कहीं आठ दिक्पालों के लिये आठ ध्वजा तथा पताकायें लगती हैं और कहीं पर दश दिक्पालों की दश ध्वजा एवं पताका लगाने का विधान है। यज्ञ कराने वाले विद्वानों की सुविधा के लिये उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

१. पूर्व दिशा में इन्द्र के लिये पीत वर्ण ध्वजा पर ऐरावत का सफेद रङ्ग से चित्र बनावें तथा पीत वर्ण की पताका पर रक्त वर्ण का वज्र बनावें।

२. अग्निकोण में रक्त वर्ण की ध्वजा पर अग्निदेव के वाहन—बकरे का श्वेतवर्ण से चित्र बनावें तथा रक्त वर्ण की पताका पर अग्निदेव का आयुध—शक्ति का चित्र पीत वर्ण से अङ्कित करें तथा इन दोनों ध्वजा एवं पताका को अग्निकोण में रोपित करें।

३. दक्षिण दिशा के स्वामी यमराज हैं। अत: इस दिशा में उनकी ध्वजा-पताका लगावें। काले रङ्ग की ध्वजा पर लाल रङ्ग के महिष का चित्र बनावें तथा कृष्ण वर्ण पताका पर लाल रङ्ग से दण्ड बनाकर लगावें।

४. नैर्ऋत्य दिशा में निर्ऋति के लिये नील ध्वज पर श्वेत वर्ण से सिंह तथा नील पताका पर रक्त वर्ण की तलवार को बनाकर लगावें।

५. पश्चिम में वरुण देव के लिये श्वेत वर्ण ध्वज पर मकर का चित्र धूम्र वर्ण से तथा श्वेत पताका पर धूम्र वर्ण से पाश अङ्कित कर लगावें।

६. वायव्य कोण में वायु देव के लिये हरे रङ्ग की ध्वजा पर कृष्ण वर्ण का मृग तथा हरित पताका पर रक्त वर्ण का अङ्कुश चित्रित कर लगावें।

७. उत्तर दिशा में सोम के लिये श्वेत वर्ण ध्वज पर सुनहरे रङ्ग से अश्व तथा श्वेत वर्ण पताका पर पीत वर्ण से गदा बनाकर लगावें।

८. ईशान कोण में शिव के लिये श्वेत वर्ण के ध्वज पर रक्त वर्ण से वृषभ तथा श्वेत पताका पर कृष्ण वर्ण का त्रिशूल चित्रित कर लगावें।

९. ईशान तथा पूर्व के बीच में ब्रह्मा के लिये श्वेत वर्ण ध्वजा पर पीत वर्ण का हंस तथा श्वेत पताका पर पीत वर्ण कमण्डलु बनाकर लगावें।

१०. पश्चिम तथा नैर्ऋत्य के बीच में अनन्त भगवान् के लिये श्वेत ध्वजा पर पीतवर्ण गरुड तथा श्वेत पताका पर चित्र-विचित्र वर्ण का चक्र बनाकर रोपण करें।

इन ध्वजा-पताकाओं को दश हाथ के बाँसों पर लगाना चाहिये।

वृत्तेऽब्जेऽब्धीष्विभागैरयुतगुणफलाल्लब्धमूलेन वृत्त-
व्यासो योनौ तु सार्धत्रिनवकररसैः सार्धसप्ताब्धिदन्तैः।
खाभ्राभ्रार्थैः सहाङ्घ्रिश्रुतिकनवशरैर्धीनवाम्भोरसैश्च
क्ष्मावार्धीभर्तुभिर्भूनगगगननगैश्च क्रमात्त्र्यादिदोःषु ॥१३॥

कुण्डार्कोदया—अथ वृत्तानयनप्रकारं प्रदर्शयति—**वृत्तेऽब्ज इति**। स्वाभिमतं क्षेत्रफलं किञ्चिद्धृत्वा तत्क्षेत्रफलं यावति वृत्ते भवति तावतो वृत्तस्य व्यासः कियान् स इदानीमुच्यते वृत्तेऽब्जे चैकहस्ते कुण्डे ५७६ क्षेत्रफलमभिमतम्। तदयुतगुणं कर्तव्यम्। तथा सति ५७६०००० एतावज्जातम्। तच्चाब्धीष्विभागै ७८५४ र्भाज्यम्। तत्र भागः ७३३ तस्य मूलं २७.०.६ एतावांस्तत्र व्यासः। एतद्व्याससूत्रं गृहीत्वा तदर्धेन सूत्रेण शङ्कोरभितो भ्रामणे स्वाभिमतक्षेत्रफलकं वृत्तं भवति। तद्विदमुक्तं 'वृत्तेऽब्जेऽब्धी-ष्विभागैरयुतगुणफलाल्लब्धमूलेन वृत्तव्यासः' इत्यनेन। अब्जे पद्मकुण्डे। अब्धयश्चत्वारः। इषवः पञ्च। इभा अष्टौ। अगाः सप्त। तष्टादित्यध्याहारः। अयुतेन दशसहस्रेण गुणितं यदिष्टं क्षेत्रफलं तच्चाब्धीभागैः ७८५४ स्पष्टं कार्यम्। तस्माद्यल्लब्धं यो भागो लब्धस्तस्य यद्वर्गमूलं तद्वृत्तव्याससूत्रपरिमाणं भवति। पद्मकुण्डे चेदमेव व्याससूत्रम्। तत्र यद्यपि वृत्तं नवमण्डलात्मकमिति तस्माद्बहिर्भूतो दशममण्डलान्तर्गतः पत्राग्रभागः कुण्डान्तर्गतो भवति, तथाऽपि तावानेव भागः पत्रसमीपस्थो नवममण्डलान्तर्गतः कुण्डाद्बहिर्भवतीति क्षेत्रफलं नाधिकं भवति। अनयैव दिशा यद्यत्क्षेत्रफलं स्वाभीष्टं वर्तुलेन साधनीयं भवति

तत्कियदप्यस्तु तद्दंशसहस्रेण गुणितं कृत्वाऽब्धीष्विभागैः (७८५४) प्रतक्ष्य च लब्धस्य भागस्य यन्मूलं तमेव वृत्तव्यासमभिलक्ष्य तदर्धेन वर्तुलं निष्काश्यते चेत्तद्वर्तुलं स्वाभीष्ट-क्षेत्रफलं भवेदेव। अयं च क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारः। यदि च वृत्तव्यासं यं कञ्चिन्मनसि कृत्वा तस्मिन्वर्तुले कियत्क्षेत्रफलं स्यादिति जिज्ञासा भवति तदा वृत्तव्यासात्क्षेत्रफला-नयनप्रकारः पूर्वविलोमेन बोध्यः। तद्ययथा—व्यासवर्ग-मब्धीष्विभागै(७८५४)र्गुणितं कृत्वा दशसहस्रेण प्रतक्ष्य यो भागो लभ्यते तदेव क्षेत्रफलं भवेत्। यदि चोक्तगुणका-(७८५४)र्धेन भनवाग्निना (३९२७) गुणितं क्रियते तदा भागोऽप्युक्तभाजका-(१००००)र्धेन पञ्चसहस्रेण (५०००) कार्यः। क्षेत्रफलं च तदेव भवेत्। तदुक्तं 'न्यासस्य वर्गे भनवाग्नि(३९२७)निघ्ने सूक्ष्मं फलं पञ्चसहस्र(५०००)भक्ते' इति।

अर्द्धचन्द्राकारकुण्डे स्वाभीष्टात्क्षेत्रफलाद्वृत्तानयनकारस्तु वर्तुलकुण्डवदेव भाजक-व्यतिरिक्तः सर्वः। भाजकं तु तदर्धं कल्पनीयमित्येवं सुविज्ञेयो भवति। अतोऽत्र मूले स न प्रदर्शितः। उदाहरणं यथा—स्वाभीष्टं क्षेत्रफलमेकहस्तकुण्डे ५७६ तद्दशसहस्रगुणितं ५७६००० एतत्पूर्वोक्तभाजकस्य ७८५४ अर्धेन ३९२७ प्रतक्ष्य यो भागो लभ्यते १४६६.६ अस्य यन्मूलं ३८.२.३ अयमेवार्धचन्द्रकुण्डे वृत्तव्यासः पूर्वमुक्तः। एतत्प्राति-लोम्येनार्धवर्तुलव्यासात्क्षेत्रफलानयनप्रकारो बोध्यः। स यथा—अत्रैवार्धचन्द्रकुण्डव्यासः ३८.२.३ तस्य वर्गः १४६६.६ स अनुलोम्ये या भाजकसङ्ख्या ३९२७ तयाऽत्र गुण्यः। गुणाकारश्च ५७५९९२७.२। अयं च दशसहस्रेण तष्टश्चेत् ५७६ भवति। एवमेवाग्रे-ऽनुसन्धेयम्।

अथ वृत्तव्यासमभिलक्ष्य तस्मात्क्षेत्रफलसाधने प्रकारान्तरमुच्यते। प्रथमतो वृत्त-व्यासाद्वृत्तं (परिधिः) साधनीयम्। परिधेश्च सकाशात्क्षेत्रफलं साधनीयम्। व्यासात्परिधि-साधनं च प्रकारत्रयेण भवति। व्यासस्य भनन्दाग्निना (३९२७) गुणने खबाणसूर्यै(२५०)-स्तक्षणे च यो भागः स परिधिः। अयं सूक्ष्मः प्रकारः। व्यासस्य द्वाविंशत्या (२२) गुणने नगै(७)स्तक्षणे च यो भागः स परिधिः। व्यासस्य सप्तमांशेन युतं व्यासत्रैगुण्यं परिधि-मानम्। एतच्च प्रकारद्वयं स्थूलम्। एवं परिधिं प्रसाध्य तेन व्यासपादस्य गुणने यो गुणा-कारो भवति तत्क्षेत्रफलम्। यथैकहस्ते वृत्तकुण्डे वृत्तव्यासः प्रागुक्तः (२७.०.५)। तत्र परिधिरुक्तप्रकारत्रयेणेषदधिकपञ्चाशीत्यङ्गुलसम्मितः (८५.०.६.४) व्यासपादश्च (६.६.१.२)। तेन गुणने (५७६) सङ्ख्या भवति। एतदेव क्षेत्रफलम्।

अथ योनिकुण्डे क्षेत्रफलाद्व्यासानयनप्रकारं दर्शयति—**योनौ तु सार्धत्रिनव-कररसैरित्यनेन**। योनिकुण्डे वलयव्यासः (३०.२) सपादत्रिंशदङ्गुलात्मकः पूर्वमुक्तः। स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते योनिकुण्डे क्षेत्रफलं (५७६)। तच्च पूर्ववद्दशसहस्र-गुणितं (५७६००००) एतत्परिमितं सम्पन्नम्। तच्चात्र सार्धत्रिनवकररसै-(६२९३.४)-

भाज्यम्। करौ द्वौ। रसाः षट्। भागश्च (९१५) लब्धः। तस्य मूलं (३०.२) यत्स एवात्र वृत्तव्यासः। अथात्र योनिकुण्डे क्षेत्रफलं (५७६) कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—योनिकुण्डे हि त्र्यस्रद्वयमर्धवर्तुलद्वयं च भवति। त्र्यस्रं चैकं पूर्वाग्रं समत्र्यस्रम्। अपरं पश्चिमाग्रं विषमत्र्यस्रम्। तत्रापि बाहुद्वयं सममेव। केवलं भूमिस्त्वदधिकेति विषमुच्यते। उभयोरपि त्र्यस्रयोः कोणत्रयं वर्तुलरेखास्पर्शि भवति। तयोश्च द्वयोस्त्र्यस्रयोः क्षेत्रफलं पृथक्प्रसाध्य पश्चात्तस्य मेलनं कर्तव्यम्। तदपेक्षयाऽत्र द्वयोस्त्र्यस्रयोर्मिलित्वैकदैव क्षेत्रफलं साधयितुं शक्यते। त्र्यस्रे हि लम्बगुणं भूम्यर्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवतीति न्यायः। अत्र च द्वयोस्त्र्यस्रयोर्भूमिरेकैव। लम्बश्च द्वयोस्त्र्यस्रयोर्मिलित्वैको भवति। स च प्राक्सूत्रात्मकः। प्राक्सूत्रं च वृत्तव्यास एवेति तस्य परिमाणं ज्ञातमेव सपादत्रिंशदङ्गुलात्मकम् (३०.२)। तेन च भूम्यर्धस्य गुणनं कर्तव्यम्। समत्र्यस्रे च भुजपरिमाणमेव भूमिपरिमाणम्। भुजपरिमाणं च व्यासवर्गस्य पादोनस्य मूलम्। अत्र च व्यासस्य ३०.२ वर्गः ९१५.०.४ स च पादोनः ६८६.२ तस्य मूलम् २६.१.४ इदं भूमिपरिमाणम्। एतदर्धं १३.०.६ लम्बेन ३०.२ गुणितं ३९६.४ भवति। एतदेव च त्र्यस्रद्वयस्य मिलित्वा फलं साधितं भवति। अथ योनिकुण्डान्तर्गतार्धवर्तुलद्वयस्य फलं साधनीयम्। एकस्य वर्तुलस्य यत्फलं तदेवार्धवर्तुलद्वयस्य। वर्तुले क्षेत्रफलं च परिधिगुणितव्यासपादात्मकम्। अत्र व्यासः १५.१ परिधिश्च त्रिगुणो व्यासो व्याससप्तमांशयुतश्च। स चात्र ४७.४ परिधिगुणितो व्यासश्च ७१८ तस्य पादः १७९.४ इदं वर्तुलफलं तदेवार्धवर्तुलद्वयस्य। तदिदं १७९.४ पूर्वसाधितेन त्र्यस्रद्वयफलेन ३९६.४ मिलितं सत् ५७६ योनिकुण्डक्षेत्रफलं सम्पद्यते। एवं द्विहस्तयोनिकुण्डादौ फलमुन्नेयम्।

अथैतत्प्रातिलोम्येन वृत्तव्यासाद्योनिकुण्डक्षेत्रफलानयनप्रकारः प्रदर्श्यते—**वृत्तव्यासः** ३०.२ तस्य वर्गः ९१५.०.४ स चाऽऽनुलोम्ये यद्भजकमुक्तं तेनात्र गुणितः कार्यः। तच्च भाजकं ६२९३.४ तेन व्यासवर्गस्य ९१५.०.४ गुणने गुणाकारः ५७५८९४५.६.६ सम्पद्यते। तस्य चाऽऽनुलोम्योक्तेन गुणकेन १०००० अत्र तक्षणे ५७६ भवति। एवमग्रेऽपि त्र्यस्रकुण्डादौ यत्र यथा क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकार उक्तस्तत्र तत्प्रातिलोम्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलमानेयम्। आनुलोम्ये यो गुणकोऽङ्कः स प्रातिलोम्ये भाजकः। यश्चाऽऽनुलोम्ये भाजकः स प्रातिलोम्ये गुणकः। यत्र चाऽऽनुलोम्ये मूलकरणं तत्र प्रातिलोम्ये वर्गकरणम्। यश्चाऽऽनुलोम्ये क्रमः स प्रातिलोम्ये विपरीतः; एतदेव प्रातिलोम्यम्। तद्यथा—क्षेत्रफलस्य गुणने गुणितस्य तक्षणे तष्टस्य मूलकरणे यन्मूलं स एव वृत्तव्यासः। वृत्तव्यासस्य वर्गकरणे वर्गस्य गुणने गुणितस्य तक्षणे यो भागस्तदेव क्षेत्रफलमिति।

इदं चात्र बोध्यम्। वृत्ताब्जार्धचन्द्रयोनित्र्यस्रचतुरस्रपञ्चास्रषडस्रसप्तास्राष्टास्रेषु दशविधेष्वपि कुण्डेषु क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारः सर्वत्र सम एव। केवलं भाजकाङ्को भिन्नः। स चात्र श्लोके पृथङ्निर्दिष्ट इति।

अथ त्र्यस्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं दर्शयति—**सार्धसप्ताब्धिदन्तैरिति।** अब्धयश्चत्वारः। दन्ता द्वात्रिंशत्। एकहस्ते त्र्यस्रकुण्डे वलयव्यासः पूर्वमुक्तः। ४२.१ स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते त्र्यस्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दशसहस्रगुणितं ५७६००००। तच्च सार्धसप्ताब्धिदन्तै(३२४७.४)र्भाज्यम्। भागश्च यो लब्धः १७७४ तस्य मूलं ४२.१ इदमेव पूर्वमुक्तं वृत्तव्यासमानम्।

एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः ४२.१ तस्य वर्गः १७७४.४.१ तस्य सार्धसप्ताब्धिदन्तै(३२४७.४)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७६२७३९.३.७ दशसहस्रेण भाजने स्थूलमानेन भागः ५७६; इदमेव क्षेत्रफलम्।

अथात्र त्र्यस्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—लम्बगुणं भूम्यर्धं स्पष्टं त्रिभुजे फलं भवतीति न्यायः। समत्र्यस्रे त्रयाणां भुजानां समत्वाद्भुजपरिमाणमेव भूमिपरिमाणम्। भुजपरिमाणं च वृत्तव्यासवर्गस्य पादोनस्य मूलम्। वृत्तव्यासः ४२.१ तस्य वर्गः १७७४.४.१ स च चतुर्थांशहीनः १३३१ तस्य मूलं स्थूलमानेन ३६.४ एतद्भूमिपरिमाणम्। अस्यार्ध १८.२ इदं लम्बेन गुणितं कर्तव्यम्। लम्बपरिमाणं च भुजवर्गपादोनमूलम्। अत्र भुजः ३६.४ तस्य वर्गः १३३१ स च पादोनः ९९८ तस्य मूलं ३१.४ इदं लम्बपरिमाणम्। अनेन लम्बेन ३१.४ भूम्यर्धस्य १८.२ गुणने स्थूलमानेन ५७६ भवति। इदमेव क्षेत्रफलम्।

अथ चतुरस्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं दर्शयति—**खाभ्राभ्रार्थैरिति।** खं शून्यम्। अभ्रं शून्यम्। अर्थाः पञ्च। एकहस्ते चतुरस्रकुण्डे वलयव्यासः ३३.७.४ पूर्वमुक्तः। स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते चतुरस्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दशसहस्रगुणितं ५७६००००; तच्च खाभ्राभ्रार्थै(५०००)र्भाज्यम्। भागश्च यो लब्धः ११५२ तस्य मूलं ३३.७.४ अयमेव वृत्तव्यासः। एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः ३३.७.४; तस्य वर्गः ११५२; तस्य खाभ्राभ्रार्थै(५०००)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७६०००० दशसहस्रेण भाजने भागः ५७६ इदमेव क्षेत्रफलम्।

अथात्र चतुरस्रकुण्डे ५७६ क्षेत्रफलं कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—समचतुरस्रे हि भुजस्य गुणने क्षेत्रफलं लभ्यते। भुजपरिमाणं च वृत्तव्यासवर्गार्धमूलम्। वृत्तव्यासः ३३.७.४ तस्य वर्गः ११५२ तदर्धं ५७६ तस्य मूलं २४ एतद्भुजपरिमाणम्। तस्य २४ तेनैव २४ गुणने ५७६ क्षेत्रफलं भवति।

अथ पञ्चास्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं दर्शयति—**सहाङ्घ्रिश्रुतिकनवशरैरिति।** अङ्घ्रिः पादः। श्रुतयश्चतस्रः। कशब्देन चत्वारः। शराः पञ्च। तथा चायं ५९४४.२ भाजकोऽङ्कः। एकहस्ते पञ्चास्रकुण्डे वृत्तव्यासः ३१.१.१ पूर्वमुक्तः

सः च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते पञ्चास्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दश-सहस्रगुणितं ५७६०००० तच्च सपादश्रुतिकनवशरै(५९४४.२)र्भाज्यम्। भागश्च यो लब्धः ९६९ ईषदधिकः तस्य मूलं ३१.१.१ इदमेव वृत्तव्यासमानम्। एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः ३१.१.१ तस्य वर्गः ९६९ तस्य सहाङ्घ्रि-श्रुतिकनवशरै(५९४४.२)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७६०००० दशसहस्रेण भाजने ५७६ भागः सम्पद्यते। इदमेव क्षेत्रफलम्।

अत्र च पञ्चास्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ कथं भवति। तदुच्यते—पञ्चास्रकुण्डे हि पञ्च त्र्यस्राणि केन्द्रमभिलक्ष्य भवन्ति। पञ्चास्रस्य ये पञ्च भुजास्त एव त्र्यस्रपञ्चकस्य पञ्च भूमयः। पञ्चास्रे भुजपरिमाणं तु परिधिपरिमाणस्य सार्धपञ्चदशांशेनोनस्य पञ्चमांशः। परिमाणं च व्यासस्त्रिगुणो व्याससप्तमांशयुतः। अत्र च व्यासः ३१.१ तस्य त्रैगुण्ये ९३.३ भवति। तत्र व्याससप्तमांशस्य ४.३.४ मेलने ९७.६.४ परिधिपरिमाणं सम्पद्यते। तस्य सामान्यतः सार्धपञ्चदशांशः ६.२.५ अनेनोनं परिधिपरिमाणं च ९१.३.७ भवति। तस्य पञ्चमांशः १८.२.३ एतत्पञ्चास्रभुजपरिमाणम्। भुज एव चान्तर्गतत्र्यस्रस्य भूमिः। तादृशभूमेरर्धं ९.१.१.४ अस्य लम्बेन गुणने त्र्यस्रफलं भवेत्। लम्बपरिमाणं च १२.४.२ स्थूलमानेन भवति। तेन भूम्यर्धस्य ९.१.१.४ गुणने ११५.१ सम्पद्यते। एतदेक-त्र्यस्रफलम्। तच्च पञ्चभिर्गुणितं त्र्यस्रपञ्चकस्य ५७६ फलं सम्पद्यते। एतदेव च पञ्चास्र-कुण्डफलम्।

अथ षडस्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं दर्शयति—**धीनवाम्भो-रसैरिति।** धियः पञ्च। अम्भश्चत्वारः। रसाः षट्। अयं ६४९५ भाजकोऽङ्कः। एकहस्ते षडस्रकुण्डे वृत्तव्यासः २९.६ पूर्वमुक्तः। स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते षडस्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दशसहस्रेण गुणितं ५७६०००० तच्च धीनवाम्भोरसै-(६४९५)र्भाज्यम्। भागश्च यो लब्धः ८८६.६.६ तस्य मूलं २९.६ इदमेव वृत्तव्यास-मानम्। एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः २९.६ तस्य वर्गः ८८६.६.६ तस्य धीनवाम्भोरसै(६४९५)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७६०००० दश-सहस्रेण भाजने भागः ५७६ सम्पद्यते। इदमेव क्षेत्रफलम्।

अत्र षडस्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—षडस्रे हि केन्द्रमभिलक्ष्य समत्र्यस्राणि षड् भवन्ति। समत्र्यस्रे हि भुजभूम्योरेकमेव परिमाणम्। तच्च षडस्रे व्यासार्धम् १४.७ भूमे(१४.७)रर्धं ७.३.४ च लम्बेन गुणितं फलं भवति। समत्र्यस्रे हि पादोनस्य भुजवर्गस्य मूलं लम्बो भवति। अत्र भुजः १४.७ तस्य वर्गः २२०.५ स च पादोनः १६५.४ तस्य मूलं १२.७ अयमत्र लम्बः। अनेन १२.७ भूम्यर्धस्य ७.४.३ गुणने स्थूलदृष्ट्या गुणाकारः ९६ भवति। इदं चैकत्र्यस्रफलम्। एतच्च षड्गुणं ५७६ त्र्यस्रषट्कात्मकस्य षडस्रकुण्डस्य फलं भवति।

अथ सप्तास्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं दर्शयति—**क्षमावार्धी-भर्तुभिरिति।** क्ष्मैका। वार्धिः समुद्रः। ते च चत्वारः। इभा अष्टौ। ऋतवः षट्। तथा चायं ६८४१ भाजकोऽङ्कः। एकहस्ते सप्तास्रकुण्डे वृत्तव्यासः २९ प्रागुक्तः। स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एकहस्ते सप्तास्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दशसहस्रेण गुणितं ५७६०००० तच्च क्ष्मावार्धीभर्तुभि(६८४१)र्भाज्यम्। भागश्च यो लब्धः ८४१.७ तस्य मूलं २९ इदमेव वृत्तव्यासमानम्। एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः २९ तस्य वर्गः ८४१.७ तस्य क्ष्मावार्धीभर्तुभि(६८४१)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७५९२६६.७ दशसहस्रेण भाजने भागः ५७६ इदमेव क्षेत्रफलम्।

अत्र सप्तास्रकुण्डे ५७६ क्षेत्रफलं कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—सप्तास्रे हि केन्द्र-मभिलक्ष्य सप्त त्र्यस्राणि भवन्ति। सप्तास्रस्य ये सप्त भुजास्ते त्र्यस्रसप्तकस्य सप्त भूमयः। तत्परिमाणं च परिधिपरिमाणस्यैकत्रिंशाशेनोनस्य सप्तमो भागः। परिधिश्च त्रिगुणो व्यासो व्याससप्तमांशयुतः। अत्र व्यासः २९ स त्रिगुणः ८७ व्याससप्तमांशेन ४.१.१ युतः ९१.१.१ एतत्परिधिपरिमाणम्। एतच्च साधारणत एकत्रिंशांशेनोनं ८८.३ भवति। तस्य सप्तमो भागः १२.५ एतद्भूमिपरिमाणम्। एतदर्धं ६.२.४ लम्बेन गुणितं कार्यम्। लम्बश्चात्र स्थूलमानेन त्रयोदशाङ्गुलः १३ तेन भूम्यर्धस्य ६.२.४ गुणने ८२.१.४ सङ्ख्या भवति। इदमेकत्र्यस्रफलम्। तस्य सप्तभिर्गुणने ५७६ त्र्यस्रसप्तकात्मकस्य सप्तास्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति।

अथाष्टास्रकुण्डे क्षेत्रफलाद्वृत्तव्यासानयनप्रकारे भाजकमङ्कं प्रदर्शयति—**भूनगगगन-नगैरिति।** भूरेका। नगाः सप्त। गगनं शून्यम्। तथा चायं ७०७१ भाजकोऽङ्कः। एकहस्तेऽष्टास्रकुण्डे वृत्तव्यासः २८.४ प्रागुक्तः। स च क्षेत्रफलादित्थमानेयः। एक-हस्तेऽष्टास्रकुण्डे क्षेत्रफलं ५७६ तच्च पूर्ववद्दशसहस्रेण गुणितं ५७६०००० भवति। तच्च भूनगगगननगै(७०७१)र्भाज्यम्। भागश्च ८१४.४ लब्धः। तस्य मूलं २८.४ इदमेव वृत्तव्यासमानम्। एतद्वैपरीत्येन वृत्तव्यासात्क्षेत्रफलानयनं यथा—वृत्तव्यासः २८.४ तस्य वर्गः ८१४.४ तस्य भूनगगगननगै(७०७१)र्गुणनम्। गुणितस्य ५७५९-३२९.४ दशसहस्रेण भाजने भागः ५७६ इदमेव क्षेत्रफलम्।

अत्र चाष्टास्रकुण्डे ५७६ क्षेत्रफलं कथं भवति तत्प्रदर्श्यते—अष्टास्रे हि केन्द्र-मभिलक्ष्याष्टौ त्र्यस्राणि भवन्ति। अष्टास्रस्य ते भुजास्ता एव त्र्यस्राष्टकस्य भूमयोऽष्टौ। तादृशभूमिपरिमाणं च परिधिपरिमाणस्य पञ्चचत्वारिंशांशेनोनस्याष्टमो भागः। परिधिश्च त्रिगुणो व्यासो व्यास सप्तांशयुतः। अत्र व्यासः—२८.४ स त्रिगुणः ८५.४ व्यास-सप्तमांशेन ४.०.४ युतः ८९.४.४ अयं च स्वपञ्चचत्वारिंशांशेनोनः स्थूलमानेन ८७.५ भवति। अस्याष्टमो भागः १०.७.५ एतद्भूमिपरिमाणम्। एतदर्धं ५.३.६ लम्बेन गुणितं

कार्यम्। लम्बश्चात्र स्थूलमानेन सार्धत्रयोदशाङ्गुलः। तेन १३.४ भूम्यर्धस्य ५.३.६ गुणने साधारणतः सङ्ख्या ७२ भवति। इदमेकत्र्यस्रफलम्। तस्याष्टसङ्ख्यया गुणने ५७६ त्र्यस्राष्टकात्मकस्याष्टास्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति। अत्र च गुणाकारभागाकारादिगणिते वर्गप्रदर्शने चाङ्गुलांशा यावन्तो यत्र प्रदर्शितास्ते तत्र स्थूलमानेन प्रदर्शिता न तु तावन्त एवेत्यभिनिवेशः कार्यः। तेन तत्र न्यूनाधिक्येऽपि न क्षतिः।।१३।।

वृत्तानयन-विधि—इस ग्रन्थ में सभी प्रकार के कुण्डों को वृत्तपूर्वक ही बनाने की विधि है। अतः सर्वप्रथम वृत्त का निर्माण कैसे करें? यह बताया जा रहा है। जितना क्षेत्रफल अभीष्ट है, वह कितने बड़े वृत्त में प्रकट होगा? फिर उस वृत्त का व्यास कितना होगा? इसे अब कहते हैं—

वृत्त कुण्ड—वृत्त कुण्ड तथा अब्ज कुण्ड (पद्म कुण्ड) में एक हाथ प्रमाण वाले कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६ अङ्गुल होता है। इस पाँच सौ छिहत्तर क्षेत्रफल को अयुत गुणा (१००००) कर दें (अयुत का अर्थ दश सहस्र होता है), तब वह सत्तावन लाख साठ सहस्र (५७,६०,०००) हुआ। इसमें सात सहस्र आठ सौ चौवन (७,८५४) से भाग दिया तो लब्धि (भजनफल) सात सौ तैंतीस (७३३) हुई, जिसका वर्गमूल निकाला तो सत्ताईस अङ्गुल तथा छः यूका (२७.०.६) हुआ। बस यही वृत्त कुण्ड का व्यास है। इस व्याससूत्र का आधा १३.४.३ लेकर उसे शङ्कु के चारो ओर घुमाने से ५७६ क्षेत्रफल का वृत्त बन जायेगा।

पद्म कुण्ड—अब्ज कुण्ड में भी २७.०.६ ही वृत्त व्यास रहता है तथा उसके आधे तेरह अङ्गुल, चार यव तथा तीन यूका के सूत्र से व्यास बना लें। बस इतने से ही पद्मकुण्ड का निर्माण उस वृत्त के ऊपर पूर्व में वर्णित श्लोक सप्तम की विधि से कर लिया जाता है। यद्यपि उसमें वृत्त को नव मण्डलात्मक बनाते हैं तथा उससे बाहर रहने वाला दशम मण्डलान्तर्गत भाग को जो पत्राग्र वाला होता है, वह कुण्डान्तर्गत होता है तथापि उतना ही भागपत्र समीपवर्ती नवम मण्डलान्तर्गत का उससे बाहर होने से क्षेत्रफल अधिक नहीं होता।

वृत्तव्यास से क्षेत्रफल का आनयन—अब यदि वृत्तव्यास ज्ञात हो तथा उससे क्षेत्रफल ज्ञात करना हो तो किस प्रकार करेंगे? इसमें पूर्ववर्णित विधि का विलोम करना पड़ता है अर्थात् जो व्यासवर्ग हो उसको ७८५४ से गुणा कर तथा गुणनफल में अयुत (१०,०००) का भाग देने पर जो भजनफल होता है, वही क्षेत्रफल होता है। यहाँ पर व्यास का वर्ग ७३३ है (यह स्थूल है, सूक्ष्म से कुछ कम है)। इसे ७८५४ से गुणा किया तो ५७,५६९८२ (जो कि ५७,६०००० से थोड़ा ही न्यून है) हुआ; इसमें अयुत (दश सहस्र) का भाग दिया तो ५७६ हुआ; लगभग यही

क्षेत्रफल आ गया। यदि यहाँ ७८५४ के आधे ३९२७ से गुणा किया जाय तब भाग दश सहस्र के स्थान पर उसके आधे पाँच सहस्र (५०००) का ही देने पर वही फल प्राप्त होगा।

अर्द्ध चन्द्राकार कुण्ड में—सम्पूर्ण विधि वही की जाती है, जो कि वृत्त कुण्ड तथा अब्ज कुण्ड में वर्णित है। केवल भाजकाङ्क में ही अन्तर है। अर्द्धचन्द्राकार कुण्ड में भाजकाङ्क ७८५४ के स्थान पर केवल उसका आधा अर्थात् ३९२७ ही मानना चाहिये; क्योंकि अर्द्धचन्द्रकुण्ड में वृत्त पूरा नहीं; किन्तु आधा ही बनता है। उदाहरणार्थ एक हाथ के कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६ को अयुत गुणा किया तो ५७,६०००० हुए। इसमें ३९२७ का भाग दिया तो भजनफल १४६६.६ प्राप्त हुआ, जिसका वर्गमूल ३८.२.३ (अड़तीस अङ्गुल, दो यव तथा तीन यूका) हुआ। यही अर्द्धेन्दु कुण्ड का वृत्तव्यास हुआ।

वृत्तव्यास से क्षेत्रफल आनयन—इसमें विलोम विधि अपनानी पड़ेगी। यथा वृत्तव्यास ३८.२.३; इसका वर्ग १४६६.६। इसका गुणाभाजक सङ्ख्या ३९२७ से किया तो १४६६.६×३९२७ = ५७५९९२७.२ हुए, जिसको दश सहस्र (अयुत = १०,०००) से तष्ट (भाग) करने पर ५७६ क्षेत्रफल प्राप्त हो जायेगा।

वृत्तव्यास से क्षेत्रफल आनयन का दूसरा प्रकार—प्रथम वृत्तव्यास से वृत्त (परिधि) का साधन करें। फिर परिधि से क्षेत्रफल निकालें।

व्यास से परिधि-साधन की तीन विधियाँ—वृत्तव्यास से परिधि-साधन की तीन विधियाँ हैं—

(क) व्यास का गुणा 'भनन्दाग्नि' अर्थात् तीन सहस्र नौ सौ सत्ताईस से कर दें तथा गुणनफल में बारह सौ पचास से भाग देने पर जो लब्धि (भजनफल) प्राप्त होता है, वह परिधि है। यह सूक्ष्म प्रकार है।

(ख) व्यास (Diametre) को द्वाविंशति = बाईस (२२) से गुणा करें तथा नग (सात) से भाग दें तो जो भजनफल प्राप्त हो, वह परिधि होती है। जैसे कि वृत्तकुण्ड में व्यास २७.०.५ है, इसे २२ से गुणा किया तो २७.०.५×२२ = ५९४.०.११० हुए। इनमें ११० में आठ का भाग देकर लब्धि १३ को आगे शून्य के नीचे जोड़ दिया। शेष ६ बचे; फिर १३ में आठ का भाग दिया तो लब्धि एक को ५९४ में जोड़ दिया। शेष ५ रहे तब ५९५.५.६ हुए, जिसमें ७ का भाग देने पर ८५.०.६.४ हुआ; यही परिधि का मान है। यह स्थूल विधि है।

(ग) व्यास के मान में सात का भाग देकर सप्तमांश प्राप्त करें, उसे त्रिगुणित व्यासमान में जोड़ दें तो योगफल परिधि का मान होता है। जैसे वृत्तव्यास २७.०.५,

इसका सप्तमांश ($\frac{१}{७}$) अङ्गुलादि ३.६.७.४ है। इसे त्रिगुणित व्यास (२७.०.५×३) = ८१.१.७ में जोड़ दिया तो ८५.०.६.४ प्राप्त हुए। यह भी स्थूल प्रमाण है।

परिधि से क्षेत्रफल का आनयन—परिधि ८५.०.६.४ है; इसमें व्यास २७.०.५ का चतुर्थांश = ६.६.१.२ का गुणा कर दिया तो क्षेत्रफल पाँच सौ छिहत्तर प्राप्त हुआ।

योनिकुण्ड में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास निकालना—योनिकुण्ड में भाजकाङ्क ६२९३.४ अर्थात् छः सहस्र दो सौ तिरानबे अङ्गुल तथा चार यव है। ५७६ के अयुतगुणा में अर्थात् ५७,६०,००० में ६२९३ $\frac{१}{२}$ का भाग दिया तो ५७,६०,००० ÷ १२५८७/२ = ५७६००००×२/१२५८७ तो स्थूल मान से भजनफल ९१५ हुआ; जिसका वर्गमूल तीस अङ्गुल तथा दो यव (३०.२) हुआ; यही वृत्तव्यास है।

विलोमविधि से वृत्तव्यास से क्षेत्रफल आनयन—योनिकुण्ड में दो त्र्यस्र तथा दो अर्धवृत्त होते हैं। एक त्र्यस्र पूर्वाग्र सम त्र्यस्र होता है तथा दूसरा पश्चिमाग्र विषम त्र्यस्र होता है; परन्तु उसमें भी दोनों भुजायें सम होती हैं। केवल उस त्रिभुज में भूमि अधिक होती है, जिसके कारण उसे विषम त्र्यस्र कहते हैं। दोनों ही त्रिभुजों के तीनों कोण वर्त्तुलरेखा का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार के दोनों त्रिभुजों का क्षेत्रफल पृथक् साधित करके फिर उसका मेलन (योग) करना चाहिये। उसकी अपेक्षा यहाँ दोनों त्र्यस्रों को मिलाकर एक ही बार में क्षेत्रफल साधन किया जा सकता है। त्रिभुज के लम्ब का गुणा भूम्यर्ध से करने पर त्रिभुज का क्षेत्रफल होता है—ऐसा नियम है। यहाँ दोनों त्र्यस्रों की भूमि एक ही है। दोनों त्र्यस्रों का लम्ब भी मिलकर एक ही होता है। वह प्राक्सूत्रात्मक अर्थात् प्राक्सूत्र के तुल्य होता है। प्राक्सूत्र तो वृत्त व्यास की भाँति ज्ञात ही है, जो कि ३०.२ है। इससे भूम्यर्ध का गुणा करना चाहिये। सम त्र्यस्र में भुजपरिमाण ही भूमिपरिमाण होता है। भुजपरिमाण व्यासवर्ग के पादोन (पौन या $\frac{३}{४}$) का वर्गमूल होता है। यहाँ व्यास ३०.२, इसका वर्ग ३०.२×३०.२ = ९१५.०.४, इसका पादोन ८८६.२, जिसका वर्गमूल २६.१.४, बस यही भूमिपरिमाण है। इसके आधे १३.०.४ को लम्ब अर्थात् ३०.२ से गुणा किया तो तीन सौ छियानबे अङ्गुल तथा चार यव हुआ अर्थात् ३९६.४ हुआ। यही दोनों त्र्यस्रों का मिलाकर क्षेत्रफल होता है।

योनिकुण्ड के दोनों अर्द्धवर्तुलों का क्षेत्रफल निकालना—जो फल एक वृत्त का होगा, वही क्षेत्रफल दो अर्द्धवृत्तों का होगा। वर्तुल में क्षेत्रफल परिधि तथा व्यास के गुणनफल का सवाया होता है। यहाँ व्यास १५.१ परिधि व्यास की तिगुनी तथा व्यास के सप्तमांश युक्त होती है। अतः व्यास १५.१×३ = ४५.३ में व्यास का सप्तमांश २.१ जोड़ा तो परिधि ४७.४ हो गयी। परिधि में व्यास का गुणा किया

तो ४७.४×१५.१ गुणनफल ७१८.३.४ हुआ। इसका चतुर्थांश १७९.४ है। यही दोनों अर्द्धवर्तुलों का क्षेत्रफल है। इसमें दोनों त्र्यस्रों का फल ३९६.४ को मिला दिया तो दोनों मिलाकर ५७६ (पाँच सौ छिहत्तर) हुआ। यही योनिकुण्ड का क्षेत्रफल है। इसी को द्विहस्तादि कुण्डों में उन्नयन करना चाहिये।

प्रतिलोम विधि से वृत्तव्यास से योनिकुण्ड का क्षेत्रफल निकालना—वृत्तव्यास ३०.२, उसका वर्ग ९१५.०.४, अनुलोम विधि में जो भाजक अङ्क प्रदर्शित किया गया है; उससे इसका गुणा किया तब ९१५.०.४ में ६२९३.४ गुणने पर ५७, ५८,९४५.६.६ गुणनफल हुआ। इसमें दस हजार (अयुत) का भाग देने पर ५७६ क्षेत्रफल आया।

इस प्रकार आगे भी त्रिकोणादि कुण्डों में जहाँ जैसा क्षेत्रफल से वृत्तव्यास निकालना बताया है, वहाँ प्रतिलोमविधि से वृत्तव्यास का क्षेत्रफल निकालना चाहिये। अनुलोमविधि में जो अङ्क भाजकाङ्क होता है, वही प्रतिलोमविधि में गुणक होता है। इसी प्रकार जो अङ्क अनुलोम में गुणक होता है, वह प्रतिलोम में भाजक होता है। तथैव जहाँ अनुलोम में वर्गमूल करना पड़ता है, उसके स्थान पर प्रतिलोम में वर्ग करना चाहिये और यदि अनुलोम में वर्ग करना लिखा हो तो प्रतिलोमविधि में वर्गमूल करें। तात्पर्य यह कि प्रतिलोमविधि में अनुलोम से सब क्रिया उल्टी करनी चाहिये। जैसे कि—

(क) क्षेत्रफल के गुणने तथा गुणनफल में भाग देने एवं भाजित (भजनफल) के वर्गमूल लेने से जो प्राप्त होता है, वह वृत्तव्यास होता है।

(ख) वृत्तव्यास का वर्ग करने पर उस वर्ग को गुणन करने तथा गुणनफल में भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो, उसे ही क्षेत्रफल कहते हैं।

रीति में समानता एवं विशेषता का स्पष्टीकरण—वृत्त कुण्ड, अब्ज कुण्ड, अर्द्धचन्द्र, योनि कुण्ड, त्रिकोण कुण्ड, चतुष्कोण कुण्ड, पञ्चकोण कुण्ड, षट्कोण कुण्ड, सप्तकोण कुण्ड, अष्टकोण कुण्ड—इन दश प्रकार के कुण्डों में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास आनयन की विधि समान ही है, केवल प्रत्येक प्रकार के कुण्डसाधनहेतु भाजकाङ्क भिन्न-भिन्न हैं। वह भाजकाङ्क इस श्लोक में पृथक् निर्दिष्ट किये गये हैं।

त्र्यस्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास निकालना—त्रिकोण कुण्ड में 'सार्धसप्ताधिदन्त' अर्थात् तीन सहस्र दो सौ साढ़े सैंतालीस (३२४७/४) यह भाजकाङ्क है तथा वृत्तव्यास $\frac{४२}{१}$ पूर्व में ही कथित है। क्षेत्रफल निकालने के लिये एक हाथ के क्षेत्रफल ५७६ को अयुत गुणा किया तो ५७,६०,००० हुए; इसमें ३२४७/४ अर्थात् ६४८५/२ का भाग दिया तो ५७,६०,०००÷२/६४८५ = १७७४ लब्ध हुए जिनका वर्गमूल ४२.१ हुआ; यही पूर्वोक्त वृत्तव्यास का अङ्गुलात्मक मान है।

विलोमविधि से व्यास से क्षेत्रफल आनयन— वृत्तव्यास $\frac{४२}{१}$ इसका वर्ग $\frac{४२}{१} \times \frac{४२}{१}$ = १७७४/४/१ इसमें भाजकाङ्क को गुणाङ्क मानकर गुणा किया तो ५७, ६२,७३९.३.७ के लगभग प्राप्त हुए; इसमें अयुत (दश सहस्र) का भाग दिया तब क्षेत्रफल पूर्व की भाँति ५७६ आया।

त्र्यस्र कुण्ड में क्षेत्रफल की उपपत्ति—त्र्यस्र कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६ कैसे होता है? यह युक्तिपूर्वक बताते हैं। लम्ब में भूम्यर्ध का गुणा करने से त्रिभुज का क्षेत्रफल स्पष्ट होता है—यह नियम है। किसी भी सम त्रिभुज में तीनों भुजाओं के (बाहुओं) के सम होने से भुज का परिमाण ही भूमि का परिमाण होता है। भुज (Base) परिमाण वृत्तव्यास वर्ग के पादोन (पौने या तीन चौथाई = $\frac{३}{४}$) का वर्गमूल होता है। इसमें वृत्तव्यास ४२.१ है; उसका वर्ग ४२.१×४२.१ = १७७४.४.१ हुआ। इसको चतुर्थांश कम किया तो पादोन १३३१ के लगभग हुआ। इसका वर्गमूल स्थूल मान से ३६.४ हुआ। यह भूमि का परिमाण है। इसका आधा १८.२, इसको लम्ब से गुणा करना चाहिये। लम्ब का परिमाण भुजवर्ग का पादोन ($\frac{३}{४}$) का वर्गमूल तुल्य होता है। अतः भुज १३३१, इसका वर्ग १३३१ (तेरह सौ इकतीस), इसको पादोन किया तो ९९८ हुए। इसका वर्गमूल ३१.४ ही लम्ब का परिमाण है। इस लम्ब ३१.४ से भूम्यर्ध १८.४ का गुणा किया तो स्थूल मान से ५७६ प्राप्त हुए।

चतुरस्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास आनयन—यहाँ भाजकाङ्क 'खाभ्राभ्रार्थ' अर्थात् पाँच सहस्र है। एक हाथ के चतुर्भुज कुण्ड का वलयव्यास ३३.७.४ पूर्व-कथित है। वह क्षेत्रफल से इस प्रकार आनीत होगा। क्षेत्रफल को अयुत गुणा किया तो ५७,६०,००० हुआ। उसमें भाजकाङ्क पाँच सहस्र का भाग दिया तो ११५२ भाजक (लब्धि = भजनफल) प्राप्त हुआ। इसका वर्गमूल लेने पर ३३.७.४ प्राप्त हुआ, जो कि वलयव्यास है।

विलोमविधि से क्षेत्रफल आनयन—वृत्तव्यास ३३.७.४ है। इसका वर्ग ११५२ है, जिसे पञ्च सहस्र गुणक से गुण दिया तो ५७,६०,००० हुआ। इसमें अयुत (दश सहस्र) का भाग दिया तब ५७६ क्षेत्रफल आया।

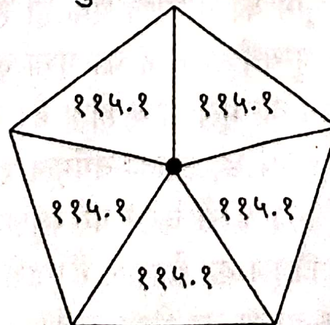
चतुरस्र कुण्ड के क्षेत्रफल की उपपत्ति—चतुरस्र कुण्ड में क्षेत्रफल पाँच सौ छिहत्तर किस प्रकार होता है? यह इस प्रकार समझें। सम चतुरस्र की भुजाओं के आपस में (लम्बाई × चौड़ाई) गुणा करने से क्षेत्रफल की लब्धि होती है—यह नियम है। चतुरस्र का जो भुजपरिमाण होता है, वह उसके व्यासवर्ग के आधे का वर्गमूल होता है। अब यहाँ वृत्तव्यास ३३.७.४ है। इसका वर्ग ११५२ (ग्यारह सौ बावन) है, जिसका आधा ५७६ (पाँच सौ छिहत्तर) होता है, जिसका वर्गमूल चौबीस

(२४) होता है; यही भुजपरिमाण है। अत: उसको उसी से गुणा करने पर प्राप्त २४×२४ = ५७६ ही एक हाथ के सम चतुरस्र का क्षेत्रफल होता है।

पञ्चास्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास निकालना—इसमें भाजकाङ्क 'सहाङ्क-विश्रुतिनवकशर' (५९४४.२) अर्थात् पाँच सहस्र नौ सौ चौवालीस तथा दो यव है। एक हाथ के कुण्ड का वलयव्यास ३१.१ है, जो कि पूर्व में वर्णित है। अब उससे क्षेत्रफल इस प्रकार निकालें—एक हाथ के पञ्चास्र कुण्ड का क्षेत्रफल पाँच सौ छिहत्तर, इसको अयुतगुणा किया तो ५७,६०,००० हुए। इसमें ५९४४.२ का भाग दिया तो ५७,६०,०००÷२३७७६/४। अत: जो कि लगभग ९६९ भागफल प्राप्त हुआ; इसका वर्गमूल ३१.१ प्राप्त हुआ। यही वृत्तव्यास है।

विलोमरीत्या वृत्तव्यास से क्षेत्रफल निकालना—पञ्चास्र कुण्ड में वृत्तव्यास ३१.१; इसका वर्ग ३१.१×३१.१ = ९६९ (लगभग); इसे पूर्व के भाजकाङ्क को गुणक मानकर उससे गुणा किया तो ९६९×२३७७६/४; गुणनफल में ५७,६०,००० के लगभग प्राप्त हुए, जिनमें दश सहस्र का भाग देने पर भजनफल पाँच सौ छिहत्तर आया। यही ५७६ एक हाथ का क्षेत्रफल है।

पञ्चास्र कुण्ड में क्षेत्रफल की उपपत्ति—अब एक हाथ के पञ्चभुज कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६ किस प्रकार होता है? यह बताया जा रहा है। पञ्चास्र कुण्ड में केन्द्रा-भिलक्षित (केन्द्राभिमुख) पाँच त्रिकोण होते हैं तथा जो पाँच भुजायें होती हैं, वे ही पाँच त्रिकोणों की पाँच भूमियाँ होती हैं। पञ्चास्र में भुजपरिमाण परिधिपरिमाण के साढ़े पन्द्रहवाँ भाग न्यून (ऊन) पञ्चमांश होता है। यहाँ वृत्तव्यास ३१.१ इसका तिगुना ३१.१×३ = ९३.३ हुआ। इसमें व्यास (३१.१) का सप्तमांश ($\frac{१}{७}$) और मिला दिया तब (९३.३+४.३.३) = ९७.६.४ यह परिधिपरिमाण हुआ। इसके सामान्यत: साढ़े पन्द्रहवाँ भाग ६.२.५ को घटा दिया तब परिधिपरिमाण ९१.३.७ हुआ, जिसका पञ्चमांश १८.२.३ है। यही पञ्चास्र का भुजपरिमाण है। भुज ही आभ्यन्तर त्रिभुज की भूमि होती है। इस प्रकार की भूमि १८.२.३ का अर्ध ($\frac{१}{२}$) ९.१.१.४ है। इसको लम्ब से गुणा करने से त्र्यस्र का क्षेत्रफल होता है।



लम्ब का परिमाण स्थूल मान से १२.४.२ है, उसमें भूम्यर्ध ९.१.१.४ का गुणा करने से ११५.१ प्राप्त हुआ। यह एक त्र्यस्र का क्षेत्रफल है, जिसे ५ से गुणा किया तो पाँचों त्रिभुजों का क्षेत्रफल ५७६ प्राप्त हुआ।

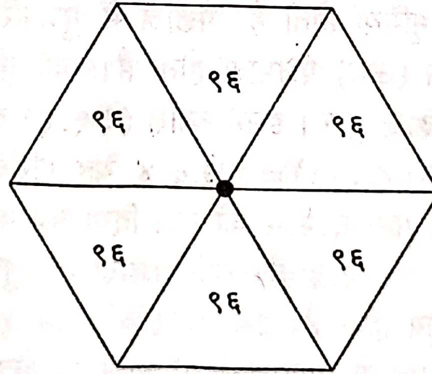
षडस्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वलयव्यास का आनयन—षडस्र कुण्ड में भाजकाङ्क ६४९५ है। एक हाथ के कुण्ड में वलयव्यास २९.६ पूर्व में कथित है, उससे क्षेत्रफल इस प्रकार निकालें—

एक हस्तात्मक कुण्ड के क्षेत्रफल ५७६ को अयुतगुणा किया तो ५७,६०,००० हुए। इस गुणनफल में भाजकाङ्क छः सहस्र चार सौ पञ्चानबे का भाग दिया तो लब्धि ८८६.६.६ प्राप्त हुए। इसका वर्गमूल २९.६ है और यही वृत्तव्यास का मान है।

विलोमविधि से वृत्तव्यास से क्षेत्रफल आनयन—वृत्तव्यास २९.६, उसका वर्ग २९.६×२९.६ = ८८६.६.६; इसमें पूर्व के भाजकाङ्क ६४९५ को गुणक मान कर गुणा कर दिया तो ५७,६०,००० हुए; जिसमें दश सहस्र का भाग देने पर ५७६ भजनफल आया। यही क्षेत्रफल है।

षडस्र कुण्ड में क्षेत्रफल की उपपत्ति—अब युक्ति द्वारा यह बताया जा रहा है कि षडस्र कुण्ड में एक हाथ में ५७६ अङ्गुल क्षेत्रफल कैसे होता है? देखिये समबाहु षड्भुज में केन्द्राभिलक्षित छः षडस्र होते हैं—

षड्भुजान्तर्गत छः त्रिभुज



सम त्र्यस्र में भुज तथा भूमि का परिमाण एक ही होता है। षडस्र में व्यासार्ध १४.७ है और यही भूमि है। भूम्यर्ध ७.३.४ का गुणा लम्ब में करने से फल होता है। सम त्र्यस्र में पादोन भुजवर्ग का मूल लम्ब होता है। यहाँ भुज १४.७, भुज का वर्ग २२०.५, उसका पादोन १६५.४, उसका वर्गमूल १२.७, यही लम्बप्रमाण है। इस १२.७ का गुणा भूम्यर्ध ७.३.४ से करने पर स्थूल दृष्टि से गुणनफल (गुणाकार) ९६ होता है। यह एक त्रिभुज का क्षेत्रफल है। इसे छः गुणा करने पर ९६×६ = ५७६ यह छः त्रिभुजात्मक षडस्र का क्षेत्रफल है।

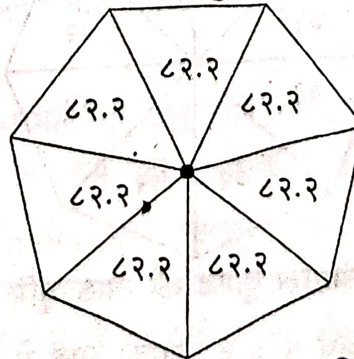
सप्तास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास ज्ञात करना—यहाँ पर भाजकाङ्क 'क्ष्मावार्धीभर्तु:' अर्थात् छ: सहस्र आठ सौ इकतालीस (६८४१) है। एक हाथ के कुण्ड में वलयव्यास २९ पूर्व में ही कहा जा चुका है। उसको क्षेत्रफल से इस प्रकार प्राप्त करें—

एक हाथ के सप्तास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६; उसे अयुतगुणा किया तो ५७,६०,००० हुआ। उसमें भाजकाङ्क ६८४१ का भाग दिया तो भजनफल ८४१.७ प्राप्त हुआ। उसका वर्गमूल निकाला तो २९ हुआ। यही सप्तास्त्र कुण्ड के (एक हाथ वाले का) वलयव्यास का मान है।

विपरीत विधि से वृत्तव्यास से क्षेत्रफल निकालना—सप्तास्त्र कुण्ड में एक हाथ का वृत्तव्यास २९ है, इसका वर्ग ८४१.७ है, जिसका गुणा भाजकाङ्क ६८४१ को गुणक मान कर किया तो गुणनफल ५७,५९,२६६.७ हुआ, जिसमें दश सहस्र का भाग दिया तो स्थूल मान से क्षेत्रफल पाँच सौ छिहत्तर अङ्गुल प्राप्त हुआ।

सप्तास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल की उपपत्ति—एक हाथ के सप्तास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल ५७६ किस प्रकार होता है। इसकी रेखागणितीय युक्ति इस प्रकार है—

सप्तास्त्र में केन्द्र को अभिलक्षित करके सात त्र्यस्त्र (त्रिकोण) होते हैं। सप्तास्त्र की जो सात भुजायें होती हैं, वे ही त्र्यस्त्र सप्तक की सात भूमियाँ होती हैं। भूमि का परिमाण परिधिपरिमाण का इकतीसवाँ भाग न्यून कर सप्तमांश होता है। व्यास की तिगुनी तथा व्यास के सप्तमांश से युत परिधि होती है। यहाँ पर व्यास २९ अङ्गुल, जिसका त्रिगुण २९×३ = ८७ हुआ। इसमें व्यास का सप्तमांश $\frac{२९}{७}$ अर्थात् ४.१.१ को और जोड़ दिया तो ९१.१.१ हुआ। यही परिधि का परिमाण है। सामान्यत: इसमें इकतीसवाँ भाग और कम कर दिया तो ८८.३ हुआ, जिसका सातवाँ भाग १२.५ भूमि का परिमाण है, जिसका आधा ६.२.४ है, जिसका गुणा लम्ब से कीजिये। स्थूल मान से लम्ब १३ अङ्गुल है, उसका गुणा भूम्यर्ध ६.२.४ से करने पर गुणनफल ८२.१.४ होता है। यह एक त्र्यस्त्र का क्षेत्रफल है, जिसे सातगुणा करने पर ८२.१.४×७ = ५७६ सप्तास्त्र कुण्ड का क्षेत्रफल हुआ।



सप्तास्त्र कुण्ड की सात भूमि

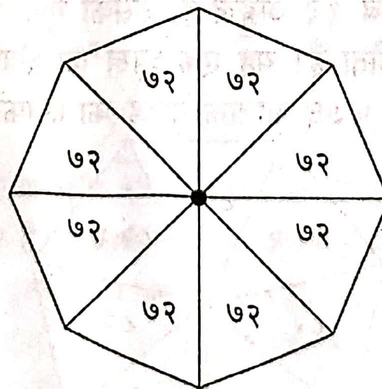
अष्टास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल से वलयव्यास जानना—अष्टास्त्र कुण्ड हेतु भाजकाङ्क 'भूनगगगननग' है अर्थात् सात सहस्त्र इकहत्तर (७०७१) है। एक हाथ के अष्टास्त्र कुण्ड का वलयव्यास २८।४ पूर्व में कथित है। वह क्षेत्रफल से निम्न प्रकार से प्राप्त करें—

एक हाथ के अष्टास्त्र कुण्ड का क्षेत्रफल ५७६ है। इसे अयुतगुणा किया तो ५७,६०,००० आया, जिसमें भाजकाङ्क ७०७१ का भाग दिया तो ५७,६०,०००÷ ७०७१ = लब्धि ८१४.४ प्राप्त हुआ, जिसका वर्गमूल २८.४ हुआ। यही पूर्वोक्त वृत्तव्यास है।

विपरीतविधि से वृत्तव्यास से क्षेत्रफल का ज्ञान—वृत्तव्यास २८.४, इसका वर्ग २८.४×२८.४ = ८१४.४, इसका पूर्वोक्त भाजकाङ्क ७०७१ को गुणाङ्क मान कर ८१४.४ से गुणा किया तो ८१४.४×७०७१ = गुणनफल ५७,५९,३२९.४ इसमें दश सहस्त्र का भाग दिया तब ५७६, यह क्षेत्रफल पूर्ववत् आ गया।

अष्टास्त्र कुण्ड में क्षेत्रफल की उपपत्ति—अष्टास्त्र कुण्ड के एक हाथ परिमाण में ५७६ क्षेत्रफल किस तरह होता है? इसे उपपत्ति द्वारा सिद्ध किया जा रहा है—

अष्टास्त्र कुण्ड में केन्द्र को अभिलक्षित करके आठ सम त्रिकोण होते हैं। अष्टास्त्र की जो भुजायें हैं, वे ही भूपरिमाण भी होती हैं। यह भूमिपरिमाण परिधिपरिमाण के पैंतालीसवें भाग न्यून का आठवाँ भाग होता है। परिधिव्यास से तिगुनी तथा व्यास के सप्तमांशयुक्त प्रमाण की होती है। यहाँ व्यास २८.४ है, जिसका तिगुना ८५.४ हुआ। इसमें व्यास २८.४ का सप्तमांश अर्थात् २८$\frac{१}{२}$ = $\frac{५७}{२}$ का $\frac{१}{७}$ = ४.०.४ को और जोड़ दिया तो ८९.४.४ हुआ। इसमें पैंतालीसवाँ भाग और कम कर देने से स्थूल मान से ८७.५ हुआ। इसका आठवाँ भाग १०.७.५ हुआ, यही भूमि का परिमाण है।



अष्टास्त्र कुण्ड की आठ भूमि

इस भूमिपरिमाण का अर्ध ५.३.६, इसको लम्ब से गुणा किया। स्थूल मान से

लम्ब साढ़े तेरह अङ्गुल (१३.४) है; अत: १३.४×५.३.६ = स्थूल मान से गुणन-फल ७२ हुआ। यह ७२ एक सम त्र्यस्र का क्षेत्रफल है। इसे आठगुणा किया ७२×८ = ५७६; यह अष्टास्र कुण्ड के आठों त्र्यस्रों को मिलाकर फल हुआ।

स्थूल मान-प्रदर्शन— यहाँ पर गणित की गुणा-भाग, वर्ग, वर्गमूलादि क्रियायें अङ्गुलादि में स्थूल मान से प्रदर्शित हैं; अत: उनमें थोड़ा-बहुत न्यूनाधिक भी हो सकता है; परन्तु इसमें कोई हानि नहीं है; क्योंकि यह समझाने के लिये है।

आवश्यक गणितीय परिभाषायें

इस ग्रन्थ में उपर्युक्त तेरहवें श्लोक तक भारतीय गणितान्तर्गत प्रचलित प्राचीन अङ्कगणित, रेखागणित, भूमिति तथा त्रिकोणमिति से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनका स्पष्टीकरण आवश्यक होने से यहाँ कुछ परिभाषायें दी जा रही हैं—

मेलन—गणित में जोड़ने की क्रिया को संस्कृत वाङ्मय में 'मेलन' कहा गया है। इसे सम्मेलन, सङ्कलन, योग, अङ्कयोग, संयोग भी कहा जाता है। अंग्रेजी में इस क्रिया को 'एडीशन' (Addition) कहते हैं।

व्यवकलन—घटाने की क्रिया या बाकी निकालने को 'व्यवकलन' कहते हैं। इसे शोधन, अन्तर तथा पृथक्करण भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसके लिये 'सब्ट्रैक्शन' (Subtraction) शब्द प्रचलित है।

गुणन—गुणा करने की क्रिया (Multiplication) को 'गुणन' कहते हैं। जिसमें गुणा किया जाता है, वह सङ्ख्या गुण्य तथा जिससे गुणा करते हैं, उसे गुणक कहते हैं। अंग्रेजी में इन दोनों की क्रमश: Multiplicand तथा Multiplier संज्ञा है। गुणनफल को गुणाकार कहते हैं।

भजन—भाग देने (Division) की क्रिया को भजन, भागहार आदि कहते हैं। जिसमें भाग दिया जाता है, उसे भाज्य (Dividend) तथा जिस सङ्ख्या से भाग देते हैं, वह भाजक (Divider) कही जाती है। भागफल को लब्धि, भजनफल तथा भागाकार कहते हैं।

वर्ग (Square)—समान दो अङ्कों का गुणनफल वर्ग कहलाता है। जैसे २४×२४ का वर्ग ५७६ है। इसे 'कृति' भी कहते हैं।

वर्गमूल (Square root)—वर्ग का मूल अङ्क, जिसका उसी से गुणा करने पर वर्ग होता है, 'वर्गमूल' कहलाता है। वर्गमूल को 'दल' भी कहते हैं। ५७६ का वर्गमूल २४ है, जिसका उसी से गुणाकार ५७६ है।

भास्कराचार्य ने लीलावती में कहा है—'समद्विघात: कृतिरुच्यते'।

क्षेत्र (Figure)—रेखाचित्र या कुण्डादि के क्षेत्र की आकृति होती है।

क्षेत्रफल (Area)—दैर्घ्य (लम्बाई) तथा विस्तार (चौड़ाई) के गुणन से प्राप्त होता है।

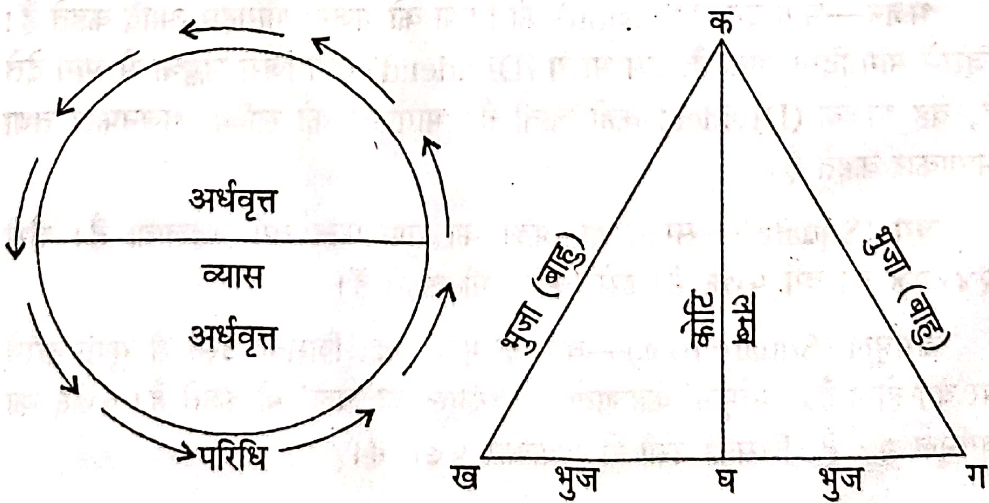
वृत्त—गोल घेरा वाले क्षेत्र को वृत्त, वर्त्तुल या वलय (Circle) कहा जाता है। अरबी में इसे 'दायरा' कहते हैं।

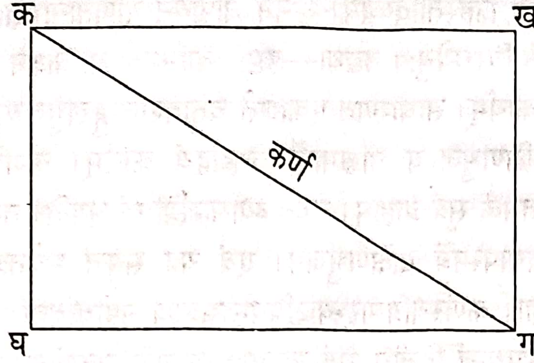
परिधि (Circumference)—किसी वृत्त की बाह्य सीमारेखा परिधि कहलाती है।

व्यास (Diameter)—वृत्त को दो समान भागों में बाँटने वाली रेखा व्यास कही जाती है।

अन्य शब्दावली

भुज	=	Base	चाप	=	Arc
भुजा	=	Side	वेध	=	Depth
कोटि	=	Perpendicular	अस्र (कोण)	=	Angle
लम्ब	=	Perpendicular	ज्या	=	Sine
त्रिज्या	=	Radius	कोटिज्या (लम्बज्या)	=	Cosine
कर्ण	=	Hypoteuse	स्पर्शज्या	=	Tangent
कर्ण	=	Diagonal	छेदनरेखा	=	Secant
उत्क्रमज्या	=	Versedsine	अबाधा	=	Segment (अवधा, खण्ड, अवाधा)





श्लोक १३ मूल के अनुसार भाजकांक-प्रदर्शन चक्र

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	क्रम संख्या
वृत्तकुण्ड	अब्जकुण्ड	अर्धचन्द्र	योनिकुण्ड	त्र्यस्रकुण्ड	चतुरस्र	पञ्चास्र	षडस्र	सप्तास्र	अष्टास्र	कुण्ड का नाम
आब्ध, इषु, इभ अग	अब्धीष्वाभाग	वृत्तकुण्ड का अर्ध	सार्ध त्रिनवकरस	सार्ध सप्तार्धिदन्त	खखाभ्रार्थ	सहांघ्रिश्रुतिकनवशर	धीनवम्भ्योरसः	क्ष्माबार्धि भर्तुः	भूनग गगननग	कुण्डार्क मूल श्लोक में भाजकाङ्क
७८५४	७८५४	२९२७	६२९३१४	३२४७१४	५०००	५९४४/२	६४९५	६८४१	७०७१	भाजकाङ्क अङ्गुलात्मक सङ्ख्या

इष्टव्यासमितैर्भुजैः समचतुष्कोणं विधायङ्कयेत्
कर्णार्धेऽर्धमुखेंऽसतोऽपरदिशि श्रोत्रेऽप्युदक् चांसतः।
मूलं द्व्यादिगुणे फले वदनतः पार्श्वार्धपुच्छेंऽसतः
पार्श्वेऽर्धेऽर्धमुखे कटौ द्विगुणिते कर्णाच्च पार्श्वे दले॥१४॥

कुण्डार्कोदया—पूर्वमाकारभेदेन वृत्ताब्जादीनि दशविधानि कुण्डानि प्रमाणत: प्रदर्शितानि। तेषु वृत्तव्यासप्रमाणं भुजप्रमाणञ्च प्रदर्शितम्। तान्येव द्विहस्तादीनि कर्तव्यानि स्युश्चेत्तत्र कियतांऽशेन प्रमाणसूत्रं वर्धितव्यं तदपि द्विघ्नोऽब्धिघ्ने फलेंऽशुरिति श्लोकेन (४) प्रतिपादितम्। तच्च गणिताभिज्ञानां सुशकमेव। इदानीं ये गणितानभिज्ञास्ते यथा द्विहस्तादीनि कुण्डान्यनायासेन रचयिष्यन्ति तथा सुलभमुपायं दर्शयति—**इष्टव्यासेति**। अत्र च समचतुरस्रे तत्तत्स्थानविशेषेषु चिह्नानि कर्तव्यतयोक्तानि। तेषां चिह्नानां पृथक्पृथङ्नामानि चोक्तानि। तत्र चामुकस्थानमारभ्यामुकचिह्नपर्यन्तं तद्भवेत्तदेव द्विगुणं द्विहस्तकुण्डे

मूलसूत्रं द्रष्टव्यम्। एवं त्रिहस्तादिष्वपि। अनेन चोपायेन गणितानभिज्ञा अपि सौलभ्येन द्विहस्तादीनि कुण्डानि विरचयेयुः। तद्यथा—इष्टः स्वाभिमतो यः कश्चन व्यासस्तत्प्रमाणै-र्भुजैः समचतुष्कोणं कार्यम्। साधारणत एकहस्ते चतुर्विंशत्यङ्गुलभुजचतुष्टयं समचतुरस्रं कार्यम्। तत्र च दक्षिणभुजस्य पश्चिमार्द्धे चिह्नाद्वयं कार्यम्। कर्णार्द्धं मध्यबिन्दुः। अंशतः कर्णार्द्धपर्यन्तमेकं सूत्रं ग्राह्यम्। तच्च व्यासार्द्धप्रमितं भवति। तस्य च सूत्रस्यैक-मग्रं दक्षिणांसे निधायापरमग्रं दक्षिणभुजम्। एवं यत्र सङ्गतं भवेत्तत्र चिह्नं कार्यम्। तस्य चार्द्ध इति संज्ञा। कर्णस्याग्रमारभ्यार्द्धपर्यन्तसूत्रस्य गृहीतत्वात्। तथा मुखमारभ्य तादृशा-र्द्धसंज्ञितचिह्नपर्यन्तं द्वितीयं सूत्रं ग्राह्यम्। तस्यापि सूत्रस्यैकमग्रं पूर्ववद्दक्षिणांसे निधाया-परमग्रं दक्षिणभुज एव यत्र सङ्गतं भवेत्तत्र चिह्नं कार्यम्। तस्य चार्द्धमुख इति संज्ञा। मुखारभ्यार्द्धचिह्नपर्यन्तं सूत्रस्य गृहीतत्वात्। तथा तृतीयं सूत्रम्। तच्च कर्णपरिमितं ग्राह्यम्। तस्यापि सूत्रस्यैकमग्रं पूर्ववदक्षिणांसे निधाय पूर्वभुजे तत्सूत्रं निधाय च तस्मात् पूर्वभुजादुत्तरश्चतुरस्राद्बहिरेव यत्र तस्य सूत्रस्यापरमग्रं सङ्गतं भवेत्तत्र चिह्नं कार्यम्। तस्य च कर्ण इति संज्ञा। एवं चिह्नत्रये कृते तत्तत्स्थानविशेषसङ्गतं सूत्रविशेषं गृहीत्वा द्विगुणितं च कार्यम्। तेन द्विहस्तत्रिहस्तादीनां दशहस्तपर्यन्तानां नवानां कुण्डानां मूलसूत्र-परिज्ञानं सुलभं भवति। द्व्याद्द्विगुणे फले। क्षेत्रफले द्विगुण इष्टे द्विहस्तं कुण्डं कार्यम्। क्षेत्रफले त्रिगुण इष्टे त्रिहस्तं कुण्डं कार्यम्। एवं दशहस्तपर्यन्तं बोध्यम्। तत्र द्विहस्तादीनां दशहस्तपर्यन्तानां नवविधानां कुण्डानां मूलसूत्राणि नव ज्ञातव्यानि। तत्राऽऽदौ सूत्रत्रयं वदनत आरभ्य ज्ञेयम्। वदनतो मुखतः। तत्रैकं मुखारभ्य दक्षिणपार्श्वपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं द्विहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। द्वितीयं सूत्रं च मुखमारभ्यार्धसंज्ञित-चिह्नपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं त्रिहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। तृतीयं सूत्रं च मुखमारभ्य पुच्छपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं चतुर्हस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। ततः सूत्रचतुष्टयमुत्तरांसत आरभ्य ग्राह्यम्। तत्र प्रथममुत्तरांसमारभ्य दक्षिण-पार्श्वपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं पञ्चहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। द्वितीयं सूत्रमुत्तरांस-मारभ्यार्द्धसंज्ञितचिह्नपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं षड्ढस्तस्य कुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। तृतीयं सूत्रमुत्तरांसमारभ्यार्द्धमुख-संज्ञितचिह्नपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं सप्तहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। चतुर्थं सूत्रं चोत्त-रांसमेवाऽऽरभ्य कटिपर्यन्तम्। कटौ जघने समापनीयम्। तच्च द्विगुणितमष्टहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। ततः सूत्रद्वयं कर्णसंज्ञितचिह्नमारभ्य ग्राह्यम्। तत्र प्रथमं कर्णान्तमारभ्य दक्षिणपार्श्वपर्यन्तम्। तच्च द्विगुणितं नवहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। द्वितीयं सूत्रं च कर्णान्तचिह्नमेवाऽऽरभ्यार्द्धसंज्ञितचिह्नपर्यन्तम्। दलमर्द्धम्। तत्र समापनीयमित्यर्थः। तच्च द्विगुणितं दशहस्तकुण्डस्य मूलसूत्रं भवति। अत्र श्लोकेंऽसत इति पदं त्रिवारं दृश्यते। तत्र प्रथमस्य दक्षिणांसत इत्यर्थस्तृतीयस्य चोत्तरांसत इत्यर्थस्तादृशविशेषणा-भावेऽपि योग्यतावलाद्ग्राह्यः। पार्श्वपदस्य दक्षिणपार्श्व इत्यर्थोऽपि तथैव बोध्यः।।१४।।

अर्कप्रभा—पूर्व में आकारभेद से वृत्ताब्जादि दशविध कुण्डों को वृत्तव्यास तथा भुजप्रमाणादि के साथ बताया जा चुका है। यह सब एक हस्त प्रमाण के लिये वर्णित हुआ है। उन्हें जब दो हाथ, चार हाथ, छः हाथ या आठ हाथ का बनाना हो तब सूत्र का प्रमाण कितना हो, वह सब 'द्विघ्नोऽब्धिघ्ने फलेऽशुरिति' इस श्लोक (चतुर्थ श्लोक) में प्रतिपादित किया गया है; परन्तु यह सब बातें जो अब तक बताई गई है; उन्हें केवल गणित को भली प्रकार से जानने वाले विद्वान् ही समझ सकते हैं। गणित से अनभिज्ञ जन उसे कथमपि नहीं समझ सकते। जो गणित से अनभिज्ञ हैं, ऐसे लोगों को इस चौदहवें श्लोक में दो-चार-छः-आठ हाथ वाले कुण्डों के निर्माण तथा सूत्रादि मापग्रहण की सरल एवं व्यावहारिक विधि बतायी जा रही है—

गणितानभिज्ञ जनों के लिये बड़े कुण्डनिर्माण की सरल विधि—यहाँ सम चतुरस्र बनाकर उन-उन स्थानविशेषों में चिह्न बनाने का निर्देश दिया गया है। उन चिह्नों के पृथक्-पृथक् नाम भी बतलाये गये हैं। वहाँ अमुक स्थान से अमुक स्थान-पर्यन्त सूत्र देने से उसका द्विगुण सूत्र द्विहस्त कुण्ड में देना चाहिये—ऐसा कहा है। ऐसा ही तीन-चार हाथ के लिये कहा गया है। इस उपाय से गणित से अनभिज्ञ पाठक भी सुलभता से कुण्डरचना कर सकेंगे। कुण्डनिर्माता को जितने व्यास का कुण्ड बनाना हो, उतने प्रमाण की भुजा वाला सम चतुरस्र बनाना चाहिये। उस सम चतुरस्र की दक्षिण भुजा में पश्चिमार्द्ध में दो चिह्न बनावें। कर्णार्द्ध तथा मध्य बिन्दु—ये चिह्न अंकित करें। अंस से कर्णार्द्धपर्यन्त एक सूत्र ग्रहण करना चाहिये। वह व्यासार्द्ध मान का होता है। उस सूत्र का एक छोर दक्षिणांस में स्थिर कर दूसरा छोर जहाँ दक्षिण भुजा सङ्गत हो, वहाँ चिह्न बनावे, उस चिह्न की अर्द्ध संज्ञा है। मुख से आरम्भ कर उस चिह्नपर्यन्त (अर्द्ध चिह्न तक) दूसरा सूत्र लेना चाहिये, उस सूत्र का एक अग्र पूर्व-दक्षिण अंस में रखकर दूसरा अग्र जहाँ दक्षिण भुजा मिलती हो (सङ्गत होती हो), वहाँ चिह्न बनावे। उस चिह्न की 'अर्द्धमुख संज्ञा' होगी। फिर मुख से आरम्भ कर 'अर्द्धचिह्न'पर्यन्त सूत्र ग्रहण करने पर वह तीसरा सूत्र कहलायेगा, उसे कर्णपरिमित लेना चाहिये। उस सूत्र का भी एक अग्र पूर्ववत् दक्षिणांस में रखकर पूर्व भुजा में उस सूत्र को गाड़ कर उस पूर्व भुजा के उत्तर में चतुरस्र के बाहर जहाँ पर उस सूत्र का अपराग्र (दूसरा छोर) सङ्गत हो (स्पर्श करे या मिले), वहाँ चिह्न बना दे। उस सूत्र की 'कर्ण' संज्ञा होती है।

इस प्रकार तीन चिह्न बनाकर उस-उस स्थानविशेष से सङ्गत होने वाले सूत्र-विशेषों को ग्रहण कर उसे द्विगुणित करना चाहिये। उसके द्वारा दो हाथ, तीन हाथ आदि से लेकर दश हाथपर्यन्त नवों कुण्डों के मूल सूत्र का परिज्ञान हो जायेगा। यदि दुगुना क्षेत्रफल अभीष्ट हो तो दो हाथ का कुण्ड बनावे। यदि तिगुना क्षेत्रफल

वाञ्छित हो तो त्रिहस्त कुण्ड बनावे। इस प्रकार दश हाथपर्यन्त जानना चाहिये। तब वहाँ दो हाथ से लेकर दश हाथ तक नवों प्रकार के वृत्तादि कुण्डों के मूल नौ सूत्र जाने जा सकते हैं।

१. प्रारम्भ के तीन सूत्र मुख (आस्य या वदन) से आरम्भ करना चाहिये—

(क) प्रथम सूत्र मुख से दक्षिण पार्श्व पर्यन्त दे। उसे दूना करने पर द्विहस्त कुण्ड का मूल सूत्र होता है।

(ख) दूसरा सूत्र मुख से आरम्भ कर 'अर्द्ध' संज्ञक चिह्न तक दे। उसे यदि द्विगुणित कर दिया जाय तो तीन हाथ कुण्ड का मूल सूत्र हो जाता है।

(ग) तृतीय सूत्र मुख से पुच्छपर्यन्त देना चाहिये। उसे द्विगुणित करने पर चार हाथ कुण्ड का मूल सूत्र होता है।

२. तदुपरान्त चार सूत्रों को उत्तरांस से ग्रहण करना चाहिये। उनमें—

(च) पहला सूत्र उत्तरांस से दक्षिण पार्श्व तक दे, उसे द्विगुणित करने पर वह पञ्च हस्त सूत्र हो जायेगा।

(छ) द्वितीय सूत्र उत्तरांस से प्रारम्भ करके 'अर्द्ध' संज्ञक चिह्नपर्यन्त दे। इसको द्विगुणित करने पर छः हाथ के कुण्ड के लिये मूल सूत्र हो जाता है।

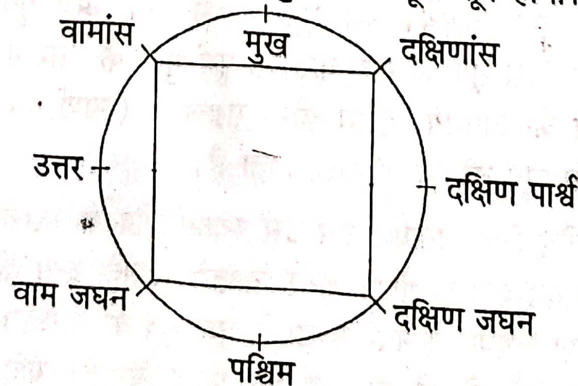
(ज) तीसरा सूत्र उत्तरांस से प्रारम्भ कर 'अर्द्धमुख' संज्ञक चिह्न तक दे। इसे द्विगुणित करने पर सात हाथ कुण्ड का मूल सूत्र होगा।

(झ) चौथा सूत्र भी उत्तरांस से ही आरम्भ कर कटिपर्यन्त (जघनपर्यन्त) देना चाहिये, जिसे द्विगुणित करने पर अष्ट हस्त कुण्ड का मूल सूत्र होता है।

३. तत्पश्चात् दो सूत्र 'कर्ण' संज्ञक चिह्न से प्रारम्भ कर ग्रहण करें, जिनमें—

(ट) प्रथम सूत्र कर्णान्त से आरम्भ कर दक्षिण पार्श्व तक दे, जिसे द्विगुणित करने पर नौ हाथ कुण्ड का मूल सूत्र होगा।

(ठ) द्वितीय सूत्र कर्णान्त चिह्न से ही आरम्भ कर 'अर्द्ध' संज्ञक चिह्न पर समाप्त करे, जिसे द्विगुणित करने पर दश हाथ कुण्ड का मूल सूत्र होगा।



इस श्लोक में 'इति' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। इनमें से प्रथम 'इति' का अर्थ 'दक्षिणांसतः' एवं तृतीय 'इति' का अर्थ 'उत्तरांसतः' विशेषण का अभाव होने पर भी योग्यताबल से ग्राह्य है। साथ ही वहीं पर 'पार्श्व' शब्द का अर्थ 'दक्षिण पार्श्व' ग्रहण करना भी समीचीन ही है।।१४।।

स्युर्वृत्तव्यासवर्गत्रियभकुचरणा भांशखाब्ध्यंशयुक्तौ
रामाश्वांसौ नरांशो नगकुलववियुक्त्र्यस्त्रतो बाहुवर्गाः।
दोघ्नं दोर्व्याभकृत्योः खपदमिति फलं स्याच्चतुर्णां त्रिदोष्णां
पादर्ध्या वृत्तदोष्णामिति मितिमवदच्छङ्करो नैलकण्ठिः॥१५॥

कुण्डार्कोदया—अथ भुजवत्सु कुण्डेषु वृत्तव्यासाद्भुजप्रमाणानयनप्रकारं प्रदर्शयति श्लोकार्द्धेन—**स्युर्वृत्तेति**। त्र्यस्रतस्त्र्यस्रमारभ्याष्टास्रपर्यन्तं षण्णां कुण्डानां बाहुवर्गा भवन्ति। तत्र त्र्यस्रे वृत्तव्यासस्य ४२.१ यो वर्गः १७७४.४.१ तस्य ये त्रयश्चरणाः १३३१ अयं त्र्यस्रभुजवर्गः। तथा चास्य १३३१ मूलं ३६.४ त्र्यस्रे भुजपरिमाणमुक्तं भवति। तथा चतुरस्रे वृत्तव्यासस्य ३३.७.४ यो वर्गः ११५२ तस्य यच्चरणद्वयं ५७६ अयं चतुरस्रभुजवर्गः। तथा चास्य ५७६ मूलं २४ चतुरस्रे भुजपरिमाणमुक्तं भवति। तथा षडस्रे वृत्तव्यासस्य २९.६ यो वर्गः ८८५.०.४ तस्य च एकश्चरणः २२१.२.१ अयं षडस्रे भुजवर्गः। तथा चास्य २२१.२.१ मूलं $\frac{१४}{७}$ षडस्रे भुजपरिमाणमुक्तं भवति। यमौ द्वौ। कुरेका। व्यासवर्गस्य त्रियभकुचरणा—त्रयश्चरणाः, द्वौ चरणावेकश्चरणश्चेत्यर्थः। भं २७। खं शून्यम्। अब्धयश्चत्वारः। भांशेन २७ खाब्ध्यंशेन ४० च युक्तौ यौ रामा-३श्वां७शौ। क्रमेण मांशेन २७ युक्तो रामांशः ३ खाब्ध्यंशेन ४० च युक्तोऽश्वांशः ७। पञ्चास्रे वृत्तव्यासस्य ३१.१ यो वर्गः ९६८.६.१ तस्य यस्तृतीयोंऽशः ३२२.७.३ स च स्वकीयेन सप्तविंशतितमेनांशेन १२ युक्तः ३३४.७.३ अयं पञ्चास्रे भुजवर्गः। तथा चास्य ३३४.७.३ मूलं १८.२ पञ्चास्रभुजपरिमाणमुक्तं भवति। अष्टास्रे वृत्तव्यासस्य २८.४ यो वर्गः ८१२.२ तस्य च सप्तमोंऽशः ११६.०.२ स च स्वकीयेन चत्वारिंशत्तमेनांशेन २.७.२ युक्तः ११८.७.४ अयमष्टास्रे भुजवर्गः। तथा चास्य ११८.७.४ मूलं १०.७.५ अष्टास्रे भुजपरिमाणमुक्तं भवति। नरांशः पञ्चमांशः। नगाः सप्त। कुरेका। नगकुलवः सप्तदशांशः तेन वियुग् रहितः पञ्चमांशः। सप्तास्रे वृत्तव्यासस्य २९ यो वर्गः ८४१ तस्य यः पञ्चमोंऽशः १६८.१ स च स्वकीयेन सप्तदशांशेन ९.७ रहितः १५८.२ अयं सप्तास्रे भुजवर्गः। तथा चास्य १५८.२ मूलं १२.५ सप्तास्रभुजपरिमाणमुक्तं भवति।

अथैतद्भुजप्रमाणानुसारेण क्षेत्रफलानयनप्रकारं प्रदर्शयति—**दोघ्नमिति**। दोघ्नं बाहुप्रमाणेन गुणितम्। कृतिर्वर्गः। दोर्बाहुः। तस्य व्यासस्य च या कृतिर्वर्गः, भुजवर्गो व्यासवर्गश्च तयोर्यत्खं विवरम्। अन्तरमिति यावत्। तस्यान्तरस्य यत्पदं मूलं तच्च मूलं

भुजगुणितं सद्यद्भवेत्तच्चतुर्णां त्रिदोष्णां क्षेत्रफलं भवति। त्र्यस्रचतुरस्रपञ्चास्रादिषु कुण्डेषु यत्र यावन्तो भुजास्ते तत्रावान्तरत्र्यस्राणां भूमित्वेन कल्पनीयाः। मध्यबिन्दुश्च त्र्यस्राणां कोणत्वेन कल्पनीयः। एवं कल्पनायां त्र्यस्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि त्रीणि कल्पितानि स्युः। चतुरस्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि चत्वारि कल्पितानि स्युः। पञ्चास्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि पञ्च कल्पितानि स्युः। एवं षडस्रे षट् सप्तास्रे सप्ताष्टास्रेऽष्टौ त्र्यस्राणि कल्पनीयानि। तत्र चोक्तरीत्या त्र्यस्रचतुष्टयस्य क्षेत्रफलं निर्द्धारणीयम्। अवान्तरत्र्यस्राणि त्रीण्येव चेत्तत्क्षेत्रफलं पादोनं कृत्वा कुण्डफलं ज्ञेयम्। अवान्तरत्र्यस्राणि पञ्च चेत्तत्क्षेत्रफलं सपादं कृत्वा कुण्डफलं ज्ञेयम्। एवमवान्तरषट्-त्रिकोणात्मके षडस्रे कुण्डे उक्तरीत्या यदवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं भवेत्तत्सार्धं कृत्वा कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। एवं सप्तास्रे कुण्डेऽवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं पादोनद्विगुणं कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। अष्टास्रे कुण्डे चावान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं द्विगुणं कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। यथाऽवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयात्मके समचतुरस्रे चतुर्विंशत्यङ्गुलसम्मिते कुण्डे दोः कृतिः भुजस्य २४ वर्गः ५७६ व्यासकृतिः व्यासस्य ३३.७.४ वर्गः ११५२ तयोः खमन्तरं ५७६ तस्य पदं मूलं २४ तच्च दोर्घ्नं बाहुना २४ गुणितं ५७६ भवति। एतदेव त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं भवति। तदेव चतुरस्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। कुण्डस्य त्र्यस्रचतुष्टयात्मकत्वात्। अवान्तरत्र्यस्रत्रयात्मके त्र्यस्रकुण्डे तु भुजस्य ३६.४ वर्गः १३३२.२ तथा व्यासस्य ४२.१ वर्गः १७७४.४.१ तयोरन्तरं ४४२.२ तस्य मूलं २१ ईषदधिकम्। तच्च बाहुना ३६।४ गुणितं स्थूलमानेन ७६८ एतत्क्षेत्रफलं त्र्यस्रचतुष्टयस्य। अत्र त्र्यस्रकुण्डे ह्यवान्तरं त्र्यस्रत्रयमेवेत्यतस्तत् ७६८ पादेन १९२ ऊनं कार्यम्। तथा सति ५७६ त्र्यस्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति। अवान्तरत्र्यस्रपञ्चकात्मके पञ्चास्रकुण्डे तु भुजस्य १८.२ वर्गः ३३३.०.४ तथा व्यासस्य ३१.१ वर्गः ९६९ तयोरन्तरं ६३६ ईषन्न्यूनम्। तस्य मूलं २५.१.५.३ तच्च बाहुना १८.२ गुणितं ४६०.१ स्थूलमानेन भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। पञ्चास्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रपञ्चकमित्यतस्तत् ४६०.१ पादेन ११५ अधिकं कार्यम्। तथा च ५७६ पञ्चास्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति। तथाऽवान्तरत्र्यस्रषट्कात्मके षडस्रकुण्डे भुजस्य १४.७ वर्गः २२०.५ तथा व्यासस्य २९.६ वर्गः ८८६.६.६ तयोरन्तरं ६६६.१.६ तस्य मूलं २५.६ तच्च बाहुना १४.७ गुणितं ३८४ स्थूलमानेन भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। षडस्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रषट्कमित्यतस्तत् ३८४ अर्द्धेन १९२ अधिकं कार्यम्। तथा सति ५७६ सङ्ख्या भवति। इदमेवैकहस्ते षडस्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। अवान्तरत्र्यस्रसप्तकात्मके सप्तास्रकुण्डे तु भुजस्य १२.५ वर्गः १५९.३.१ तथा व्यासस्य २९ वर्गः ८४१ तयोरन्तरं ६८१.४.७ तस्य मूलं २६.०.३ तच्च बहुना १२.५ गुणितं ३२९. ४.०.६ भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। सप्तास्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रसप्तकमित्यतस्तत् ३२९.४.०.६ पादोनद्विगुणं कार्यम्। द्विगुणं ६५९ तच्च

भुजगुणितं सद्यद्भवेत्तच्चतुर्णां त्रिदोष्णां क्षेत्रफलं भवति। त्र्यस्रचतुरस्रपञ्चास्रादिषु कुण्डेषु यत्र यावन्तो भुजास्ते तत्रावान्तरत्र्यस्राणां भूमित्वेन कल्पनीयाः। मध्यबिन्दुश्च त्र्यस्राणां कोणत्वेन कल्पनीयः। एवं कल्पनायां त्र्यस्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि त्रीणि कल्पितानि स्युः। चतुरस्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि चत्वारि कल्पितानि स्युः। पञ्चास्रे कुण्डे कुण्डमध्येऽवान्तरत्र्यस्राणि पञ्च कल्पितानि स्युः। एवं षडस्रे षट् सप्तास्रे सप्ताष्टास्रेऽष्टौ त्र्यस्राणि कल्पनीयानि। तत्र चोक्तरीत्या त्र्यस्रचतुष्टयस्य क्षेत्रफलं निर्द्धारणीयम्। अवान्तरत्र्यस्राणि त्रीण्येव चेत्तत्क्षेत्रफलं पादोनं कृत्वा कुण्डफलं ज्ञेयम्। अवान्तरत्र्यस्राणि पञ्च चेत्तत्क्षेत्रफलं सपादं कृत्वा कुण्डफलं ज्ञेयम्। एवमवान्तरषट्-त्रिकोणात्मके षडस्रे कुण्डे उक्तरीत्या यदवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं भवेत्तत्सार्धं कृत्वा कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। एवं सप्तास्रे कुण्डेऽवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं पादोनद्विगुणं कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। अष्टास्रे कुण्डे चावान्तरत्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं द्विगुणं कुण्डक्षेत्रफलं भवेत्। यथाऽवान्तरत्र्यस्रचतुष्टयात्मके समचतुरस्रे चतुर्विंशत्यङ्गुलसम्मिते कुण्डे दोः कृतिः भुजस्य २४ वर्गः ५७६ व्यासकृतिः व्यासस्य ३३.७.४ वर्गः ११५२ तयोः खमन्तरं ५७६ तस्य पदं मूलं २४ तच्च दोर्घ्नं बाहुना २४ गुणितं ५७६ भवति। एतदेव त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलं भवति। तदेव चतुरस्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। कुण्डस्य त्र्यस्रचतुष्टयात्मकत्वात्। अवान्तरत्र्यस्रत्रयात्मके त्र्यस्रकुण्डे तु भुजस्य ३६.४ वर्गः १३३२.२ तथा व्यासस्य ४२.१ वर्गः १७७४.४.१ तयोरन्तरं ४४२.२ तस्य मूलं २१ ईषदधिकम्। तच्च बाहुना ३६।४ गुणितं स्थूलमानेन ७६८ एतत्क्षेत्रफलं त्र्यस्रचतुष्टयस्य। अत्र त्र्यस्रकुण्डे ह्यवान्तरं त्र्यस्रत्रयमेवेत्यतस्तत् ७६८ पादेन १९२ ऊनं कार्यम्। तथा सति ५७६ त्र्यस्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति। अवान्तरत्र्यस्रपञ्चकात्मके पञ्चास्रकुण्डे तु भुजस्य १८.२ वर्गः ३३३.०.४ तथा व्यासस्य ३१.१ वर्गः ९६९ तयोरन्तरं ६३६ ईषन्न्यूनम्। तस्य मूलं २५.१.५.३ तच्च बाहुना १८.२ गुणितं ४६०.१ स्थूलमानेन भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। पञ्चास्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रपञ्चकमित्यतस्तत् ४६०.१ पादेन ११५ अधिकं कार्यम्। तथा च ५७६ पञ्चास्रकुण्डस्य क्षेत्रफलं भवति। तथाऽवान्तरत्र्यस्रषट्कात्मके षडस्रकुण्डे भुजस्य १४.७ वर्गः २२०.५ तथा व्यासस्य २९.६ वर्गः ८८६.६.६ तयोरन्तरं ६६६.१.६ तस्य मूलं २५.६ तच्च बाहुना १४.७ गुणितं ३८४ स्थूलमानेन भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। षडस्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रषट्कमित्यतस्तत् ३८४ अर्द्धेन १९२ अधिकं कार्यम्। तथा सति ५७६ सङ्ख्या भवति। इदमेवैकहस्ते षडस्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। अवान्तरत्र्यस्रसप्तकात्मके सप्तास्रकुण्डे तु भुजस्य १२.५ वर्गः १५९.३.१ तथा व्यासस्य २९ वर्गः ८४१ तयोरन्तरं ६८१.४.७ तस्य मूलं २६.०.३ तच्च बहुना १२.५ गुणितं ३२९. ४.०.६ भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। सप्तास्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्रसप्तकमित्यतस्तत् ३२९.४.०.६ पादोनद्विगुणं कार्यम्। द्विगुणं ६५९ तच्च

पादेन ८२.२। ऊनं सत्सधारणतः ५७६ भवति। इदमेवैकहस्ते सप्तास्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। अवान्तरत्र्यस्राष्टाकात्मकेऽष्टास्रकुण्डे तु भुजस्य १०.७.५ वर्गः ११८.६.५ तथा व्यासस्य २८.४ वर्गः ८१४.४ तयोरन्तरं ६९५.६ तस्य मूलं २६.३.७ तच्च बाहुना १०.७.५ गुणितं २८८ भवति। एतत्त्र्यस्रचतुष्टयस्य फलम्। अष्टास्रकुण्डे त्ववान्तरं त्र्यस्राष्टकमित्यतस्तत् २८८ द्विगुणं ५७६ कार्यम्। इदमेवैकहस्तेऽष्टास्रकुण्डे क्षेत्रफलम्। पादर्द्धर्या। पादस्य ऋद्धिः पादर्द्धिस्तया। ऋद्धिर्वृद्धिः। सा च पञ्चास्रकुण्ड एकपादस्य षडस्रकुण्डे पादद्वयस्य सप्तास्रकुण्डे पादत्रयस्य च प्रदर्शितैव। यथा च पञ्चास्रकुण्डे क्षेत्रफलसङ्ख्यापादेनैकेनाधिका निर्द्धारिता तथा तुल्यन्यायात्त्र्यस्रकुण्डे क्षेत्रफलसङ्ख्या पादेनैकेनोना निर्द्धारणीया। उपसंहरति—**वृत्तदोष्णामित्यादिना**। वृत्तानां वृत्ताब्जादिदशविधकुण्डप्रकृतिवृत्तव्यासानामेकहस्तद्विहस्तादिभेदभिन्नानां दोष्णां बाहूनां च मितिं प्रमाणमित्येवम्प्रकारेण नीलकण्ठपुत्रः शङ्करोऽवददित्यर्थः।।१५।।

वंशे पूते भुवनविदितेऽभ्यङ्करोपाभिधेऽभू-
त्प्राज्ञो विद्वन्मुकुटसुमणिर्देशिको भास्कराख्यः।
तत्पौत्रः श्रीबुधजनहितायोदयाख्यां तमोघ्नीं
कुण्डार्केऽभूं विवृत्तिमतनोद्वासुदेवः सुबोधाम्॥१॥

त्रीष्विभेन्दुमिते शाके वत्सरेऽथ प्रजापतौ।
श्रावणे मासि कुण्डार्कटीका श्रीभास्करेऽर्पिता॥२॥

इति महामहोपाध्यायाभ्यङ्करोपाह्ववासुदेवशास्त्रिप्रणीता कुण्डार्कोदयाभिधा कुण्डार्कटीका समाप्तिमगात्

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु॥



अर्कप्रभा—भुजवत्कुण्डों में वृत्तव्यास से भुज-आनयन—अब इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में भुजा वाले कुण्डों में व्यासवृत्त से भुजानयन की विधि कही जा रही है। वृत्त कुण्ड, पद्म कुण्ड तथा अर्द्धवृत्त कुण्ड में भुजा नहीं होती है।

त्र्यस्र कुण्ड—इसमें तीन भुजा होती है। त्र्यस्र कुण्ड में वृत्तव्यास ४२.१ है। इसका भुजवर्ग (४२.१×४२.१) = १७७४.४.१ होता है, इसका पादोन पौना १३३१ है। यह त्रिकोण कुण्ड की भुजाओं का वर्ग है। इसका वर्गमूल निकालने पर ३६.४ हुआ। यही त्र्यस्र का भुजपरिमाण है।

चतुरस्र कुण्ड में भुजप्रमाण—चतुरस्र में वृत्त व्यास ३३.७.४ है। इसका वर्ग ११५२ है, जिसके दो चरण (आधा) ५७६ है, यह चतुर्भुज का भुजवर्ग है। इसका मूल चौबीस (२४) है। यही चतुरस्र का भुजप्रमाण है।

षडस्र में भुजप्रमाण-आनयन—षडस्र में वृत्तव्यास २९.६ है। इसका वर्ग ८८५.०.४ है, जिसका एक चरण (चतुर्थांश) २२१.२.१ है। यही षडस्र कुण्ड का भुजवर्ग है। अब इसका वर्गमूल १४.७ है, जो कि षडस्र का भुजपरिमाण है।

पञ्चास्र कुण्ड में भुजानयन—पञ्चास्र में वृत्तव्यास ३१.१ है, जिसका वर्ग ९६८.६.१ है, उसका तृतीयांश ३२२.७.३ है, जिसमें उसी का सत्ताईसवाँ भाग जो कि लगभग १२ होता है, जोड़ दिया तो ३३३.०.४ हुआ। यह पञ्चास्र का भुजवर्ग है। इस ३३३.०.४ का वर्गमूल १८.२ है, यही पञ्चास्र कुण्ड में भुजपरिमाण है। यहाँ भुजवर्ग स्थूल है।

अष्टास्र कुण्ड में भुजपरिमाण का ज्ञान—अष्टास्र कुण्ड में वृत्तव्यास २८.४ है, इसका जो वर्ग है ८१२.२, उसका सप्तमांश ११६.०.२ है, जिसमें उसी का चालीसवाँ भाग जो २.७.२ के लगभग है, जोड़ दिया तब ११८.७.४ हुआ। इसका वर्गमूल १०.७.५ है। यही अष्टास्र कुण्ड का भुजपरिमाण है।

सप्तास्र में भुजपरिमाण निकालना—सप्तास्र में वृत्त (वलय) का व्यास २९.० है। इसका वर्ग २९×२९ = ८४१ है, इसका पाँचवाँ भाग (८४१/५) एक सौ अडसठ अङ्गुल तथा एक यव के लगभग होता है। इस १६८.१ को उसी का सत्रहवाँ भाग अर्थात् १६८.१÷१७ = ९.७ हुआ, जिसे १६८.१ में से घटा दिया तो १५८.२ हुआ। यही सप्तास्र कुण्ड का भुजवर्ग होता है, जिसका वर्गमूल १२.५ है, जो कि सप्तास्र का भुजपरिमाण होता है।

भुजप्रमाण से कुण्डों का क्षेत्रफल जानना—पूर्व में क्षेत्रफल से वृत्तव्यास तथा वृत्तव्यास से क्षेत्रफल-ज्ञान की विधियाँ चौदहवें श्लोक में बताई जा चुकी हैं। अब इस अन्तिम श्लोक के पूर्वार्द्ध में वृत्तव्यास से भुजप्रमाण निकालने की विधि बताकर उत्तरार्द्ध में भुज प्रमाण से क्षेत्रफल जानने की विधि वर्णित की जा रही है—

भुज से क्षेत्रफल-ज्ञान का सूत्र—भुजवर्ग तथा व्यासवर्ग के अन्तर का वर्गमूल है, उसे भुज से गुणा करने पर वही चारो या तीनों भुजाओं (दोष्णा) का क्षेत्रफल होता है।

भुजवान् कुण्डों में त्र्यस्रों की कल्पना—त्र्यस्र-चतुरस्रादि भुजा वाले जो कुण्ड हैं, उनमें जितनी भुजा हों, उतने ही त्र्यस्रों की भूमिरूप में कल्पना करें अर्थात् उतनी संख्या वाली भूमियाँ ही उस त्र्यस्र में हैं, यह मान लें। उनके मध्य बिन्दु को त्र्यस्रों के कोणों के रूप में मान लें। इस प्रकार की कल्पना में—

१. त्र्यस्र कुण्ड में तीन त्र्यस्र तथा भूमियाँ होती हैं।

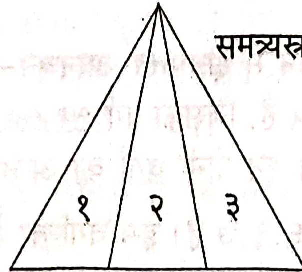
२. चतुरस्र में चार अवान्तर त्र्यस्र तथा भूमियाँ होती हैं।

३. पञ्चास्र में पाँच अवान्तर त्र्यस्र तथा भूमियाँ होती हैं।
४. षडस्र में छः अवान्तर त्र्यस्र तथा भूमियाँ होती हैं।
५. सप्तास्र में सात अवान्तर त्र्यस्र तथा भूमियाँ होती हैं।
६. अष्टास्र में आठ अवान्तर त्र्यस्र तथा भूमियों की कल्पना करें।

फिर ऊपर वर्णित रीति से चार त्र्यस्रों का क्षेत्रफल ज्ञात करें। फिर यदि अवान्तर क्षेत्र में त्र्यस्रों की संख्या तीन ही हो तो क्षेत्रफल का पादोन (पौना = तीन चौथाई = $\frac{३}{४}$) ही, क्षेत्रफल मानें। यदि पाँच त्र्यस्र हों तो प्राप्त क्षेत्रफल को सपाद (सवाया= १$\frac{१}{४}$ गुणा) करें। यदि अवान्तर त्रिकोण की संख्या छः हो तो चतुरस्र का क्षेत्रफल साधन कर उसे ड्योढ़ा करने से क्षेत्रफल ज्ञात होता है। सप्तास्र कुण्ड में कुण्ड के अवान्तर चार त्र्यस्रों का क्षेत्रफल जानकर उसे पादोन द्विगुण (पौने दो गुणा = १$\frac{३}{४}$ = $\frac{७}{४}$ गुणा) कर दें। अष्टास्र कुण्ड के लिये उस चार त्र्यस्रों के क्षेत्रफल को द्विगुणित कर देना चाहिये।

सम-चतुरस्र कुण्ड में भुज से क्षेत्रफल जानना—एक हाथ के चतुरस्र कुण्ड में चौबीस अङ्गुल वाली चार भुजायें होती हैं। २४×२४ = ५७६ वर्ग हुआ तथा व्यास ३३.७.४ का वर्ग ११५२ है। इन दोनों का अन्तर ११५२-५७६ = ५७६ हुआ, जिसका वर्गमूल २४ है। इसका वर्ग ५७६ है। यही चतुरस्र कुण्ड के चार त्र्यस्रों (त्र्यस्रचतुष्टय) का क्षेत्रफल हुआ।

त्र्यस्र कुण्ड में भुज से क्षेत्रफल निकालना—त्र्यस्र कुण्ड में अवान्तर (कुण्ड के भीतर) तीन त्र्यस्र होते हैं। इस कुण्ड में भुज ३६.४ है। इसका वर्ग ३६.४× ३६.४ = १३३२.२ तथा व्यासवर्ग ४२.१ है। इसका वर्ग ४२.१×४२.१ = १७७४.४.१ इन दोनों व्यासवर्गों का अन्तर ४४२.२ हुआ तथा इसका वर्गमूल लगभग २१ है। इसका गुणा कुण्ड के बाहुमान (भुजमान) से किया तो ३६.४×२१ = ७६८ के लगभग हुआ। यह ७६८ चार त्र्यस्रों (त्र्यस्रचतुष्टय) का क्षेत्रफल है। चूँकि त्र्यस्र कुण्ड में मात्र तीन ही त्र्यस्र होते हैं; अतः इसको पादोन ($\frac{३}{४}$) कर दिया अर्थात् क्षेत्रफल ७६८ में उसी के चतुर्थांश ($\frac{७६८}{४}$) अर्थात् १९२ को घटा दिया तो शेष ५७६ रहा अर्थात् ७६८-१९२ = ५७६ है। यही त्र्यस्र कुण्ड का क्षेत्रफल है।



समत्र्यस्र कुण्ड में तीन अवान्तर त्र्यस्र

पञ्चास्र कुण्ड में भुज से क्षेत्रफल का आनयन—पञ्चास्र कुण्ड में पाँच अवान्तर त्र्यस्र होते हैं। उसका भुजमान १८२ है। इसका वर्ग ३३३.०.४ हुआ तथा व्यास ३१.१ है, जिसका वर्ग ९६९ हुआ। इन दोनों वर्गों का अन्तर लगभग ६३६ होता है, जिसका वर्गमूल २५.१.५.३ हुआ। इसका गुणा बाहु (भुज) १८.२ से किया तो २५.१.५.३× १८.२ = ४६०.१ यह स्थूल मान (लगभग) हुआ।

यह चार त्र्यस्रों (त्र्यस्रचतुष्टय) का क्षेत्र होता है, जिसे सपाद (सवाया) करने पर ५७६ हो जाता है। अर्थात् ४६० में इसका चतुर्थांश ११५ जोड़ने पर ५७५.१ हुआ, जिसे ५७६ मान लिया। यह पञ्चास्र के पाँच त्र्यस्रों का फल हुआ।

षडस्र कुण्ड में भुज से क्षेत्रफल का आनयन—षडस्र कुण्ड में छ: त्र्यस्र होते हैं। इसका भुजमान १४.७ है, जिसका वर्ग २२०.५ तथा व्यास २९.६ है। इसका वर्ग ८८६.६.६ है। इन दोनों वर्गों का अन्तर ६६६.१.६ है, जिसका वर्गमूल २५.६ है।

यही भुजमान से गुणने पर लगभग ३८४ हो जाता है, जो कि चार त्रिभुजों (त्र्यस्रचतुष्टय) का क्षेत्रफल होता है; क्योंकि षडस्र में छ: त्र्यस्र होते हैं; अत: चार त्र्यस्रों के क्षेत्रफल को ड्योढ़ा (डेढ़ गुना) कर दिया तो ३८४+१९२ = ५७६ यह षडस्र कुण्ड का क्षेत्रफल हो गया, जो कि एक हाथ के लिये है।

सप्तास्र कुण्ड में भुजमान से क्षेत्रफल ज्ञात करना—इसमें अवान्तर सात त्रिभुज होते हैं। इसमें भुज १२.५ वर्ग १५९.३.१ है, व्यास २९ तथा व्यासवर्ग ८४१ है। इन दोनों का अन्तर ६८१.४.७ हुआ, जिसका वर्गमूल २६.०.३ है, जिसका गुणा सप्तास्र के भुज १२.५ से कर दिया तो गुणनफल ३२९.४.०.६ होता है। यह त्र्यस्रचतुष्टय का क्षेत्रफल है।

इसे पौने दोगुना कर दिया अर्थात् इसमें इसी का पादोन ($\frac{३}{४}$) और जोड़ दिया अथवा त्र्यस्रचतुष्टय के क्षेत्रफल को दूना कर दें और उसमें त्र्यस्रचतुष्टय का चतुर्थांश घटा दें, जो कि यह चतुर्थांश ८२.२ के लगभग है; अत: ३२९.४.०.६ का द्विगुण ६५९ है। इसमें ८२.२ घटा दें तो ५७६ आया। यही एक हाथ के सप्तास्र कुण्ड का क्षेत्रफल होता है।

अष्टास्र कुण्ड में भुजमान से क्षेत्रफल-आनयन—अवान्तर त्र्यस्राष्टक से युक्त इस कुण्ड में भुजमान १०.७.५ है, जिसका वर्ग ११८.६.५ है तथा व्यासमान २८.४ है, जिसका वर्ग ८१४.४ है। इन दोनों वर्गों का अन्तर ६९५.६ है।

इस वर्गान्तर का मूल २६.३.७ है। इस वर्गान्तर के मूल का गुणा बाहु (भुज)

१०.७.५ से किया तो २८८ हुआ। यह २८८ (दो सौ अट्ठासी) चार त्र्यस्रों का क्षेत्रफल है। अब चूँकि अष्टास्र कुण्ड में आठ त्र्यस्र होते हैं; अत: इसे दूना कर दिया तो २८८×२ = ५७६ आया। यही एक हस्तात्मक अष्टास्र कुण्ड का क्षेत्रफल होता है।

पादवृद्धि-निर्द्धारण—जैसा कि भली-भाँति समझाया जा चुका है कि भुजमान से क्षेत्रफल ज्ञात करने में सर्वप्रथम भुजमान तथा व्यासमान का वर्ग बनाते हैं। फिर उन दोनों का वर्गान्तर करके जो शेष बचता है, उसका वर्गमूल निकाल कर उस वर्गमूल को भुजमान से गुणा करते हैं तो उस कुण्ड के चार त्र्यस्रों का क्षेत्रफल मिलता है।

अब इसमें पादर्धि अर्थात् पादवृद्धि करके अन्य कुण्डों का क्षेत्रफल ज्ञात करते हैं—

यथा—पञ्चास्र कुण्ड में एक पाद की ऋद्धि (वृद्धि) करते हैं, षडस्र में दो पाद-वृद्धि करते हैं। सप्तास्र कुण्ड में त्रिपादवृद्धि की जाती है। अष्टास्र कुण्ड में चतुष्पाद की वृद्धि करने के लिये फल को द्विगुण कर देते हैं।

पादह्रास—पाद का अर्थ किसी सङ्ख्या का चतुर्थांश अर्थात् एक बटा चार ($\frac{१}{४}$) होता है। जहाँ पञ्चास्र, षडस्र, सप्तास्र में पादवृद्धि होती है, वहीं त्र्यस्र कुण्ड में पादह्रास किया जाता है, जिसे 'पादोन' या 'पादन्यून' कहते हैं।

त्र्यस्र कुण्ड में तीन त्रिभुज होने से त्र्यस्रचतुष्टय के फल में एक पाद कम कर दिया जाता है और वह फल पादोन (पौन) ही रह जाता है।

पादोन को बोल-चाल की भाषा में पौन अथवा तीन बटा चार ($\frac{३}{४}$) कहते हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने इस श्लोक में वृत्त कुण्ड, अब्ज कुण्ड, अर्द्धवृत्त कुण्ड (अर्द्धचन्द्र कुण्ड) तथा योनि कुण्ड—इन चार को छोड़कर अवशिष्ट छ: कुण्डों (त्रिकोण, चतुष्कोण, पञ्चकोण, षट्कोण, सप्तकोण तथा अष्टकोण) में भुजमान से कुण्ड के क्षेत्रफल की उपपत्ति को साङ्गोपाङ्ग समझाते हुए क्षेत्रफल आनयन करना समझाया गया है।

उपसंहार—अब ग्रन्थकार कहते हैं—इस ग्रन्थ में वृत्त कुण्ड, अब्ज कुण्ड, अर्द्धेन्दु कुण्ड, त्रिकोण कुण्ड, योनि कुण्ड, चतुरस्र कुण्ड, पञ्चास्र कुण्ड, षडस्र कुण्ड, सप्तास्र कुण्ड तथा अष्टास्र कुण्ड की रचनाविधि, उनके व्यास, भुज आदि के मान, क्षेत्रफलादि आनयन, एकहस्त, द्विहस्तादि भेद, (तथा मण्डपादि निर्माणसहित) नीलकण्ठ के पुत्र शङ्कर ने बताये हैं।।१५।।

यहाँ ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का रचनाकाल तथा स्वयं का निवासस्थान नहीं लिखा है।

ग्रन्थानुसार कुण्डों के भुजादि मान की तालिका

कुण्ड का नाम	त्र्यस्र संख्या	भुजमान अङ्गुलादि	भुजवर्ग अङ्गुलादि	वृत्तव्यास अङ्गुलादि	व्यासवर्ग अङ्गुलादि	उभय व्यासान्तर	त्र्यस्र चतुष्टय का फल	कुण्ड का क्षेत्रफल
त्र्यस्र	तीन	३६.४.०	१३३१	४२.१	१७७४.४.१	४४२.२	७६८ पादोन करें	५७६
चतुरस्र	चार	२४.०.०	५७६	३३.७.४	११५२	५७६	५७६ यथावत्	५७६
पञ्चास्र	पाँच	१८.२	३३४.७.३	३१.१	९६९	६३६	४६०.१ सपाद करें	५७६
षष्ठास्र	छः	१४.७	२२१.२.१	२९.६	८८६.६.६	६६६.१.६	३८४ ड्योढ़ा करें	५७६
सप्तास्र	सात	१२.५	१५८.२	२९.०	८४१.७	६८१.४.७	३२९.४.०.६ पौने दोगुना करें	५७६
अष्टास्र	आठ		११८.७.५	२८.४	८१४.४	६९५.६	२८८ दूना करें	५७६
वृत्त	×	×	×	२७.०.६	७३३	×	×	५७६
पद्म	×	×	×	२७.०.६	७३३	×	×	५७६
अर्द्धचन्द्र	×	×	×	३८.२.३	१४६६.६	×	×	५७६
योनि	×	×	×	३०.२	९१५.०४	×	×	५७६

इस प्रकार श्री नीलकण्ठ के पुत्र श्री शङ्कर द्वारा प्रणीत
'कुण्डार्क' ग्रन्थ की महर्षि अभय कात्यायनकृत
'अर्कप्रभा' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

हिन्दीटीकाकारकृतदेशकालादिवर्णनम्

षष्ट्युत्तरे द्विसाहस्रे वत्सरे वैक्रमे शुभे।
फाल्गुन्यैकादशी शुक्ला आमलक्यां पुनर्वसौ।।१।।

सुपुण्ये बरहाग्रामे लहारनाम्नि जनपदे।
कात्यायनो अभयेन टीकेऽयं पूर्णताङ्गता।।२।।

परिशिष्टद्वययुता टीका 'अर्कप्रभा' शुभा।
सचित्रा विशदा रम्या सुस्पष्टा च मनोरमा।।३।।

यजमाना प्रमोदन्तु प्रसीदन्तु च पण्डिताः।
ऋत्विजाश्च प्रमोदन्तु सफलीभवतु चाध्वरे।।४।।



परिशिष्ट-१

यज्ञीय व्यक्ति

यज्ञशाला (मण्डप) के निर्माणोपरान्त यज्ञकार्य के लिये जो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं, उनका परिचय जान लेना भी यज्ञकर्म में भाग लेने वाले विद्वज्जनों के लिये आवश्यक है। वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों के विद्वान् ब्राह्मण यज्ञाचार्य का पद ग्रहण कर यज्ञ सम्पन्न कराते हैं। उनके उपयोग की जानकारी इस परिशिष्ट में दी जा रही है—

यजमान—जो व्यक्ति यज्ञ करता है, उसे यजमान, मखी, मखकर्त्ता तथा यज्ञ-कर्त्ता आदि कहते हैं। यह यज्ञ का प्रमुख व्यक्ति होता है। विना यजमान के यज्ञ नहीं होता; क्योंकि यजमान ही यज्ञ के व्ययभार को वहन करता है और वही यज्ञकर्त्ता ब्राह्मणों (पुरोहित, आचार्य) ऋत्विज आदि का वरण (नियुक्ति) करता है। यज्ञकाल में वही आतिथेयी भी होता है। 'यज्' धातु में शानच् प्रत्यय लगकर यजमान शब्द बनता है।

आचार्य—यजमान के हाथों सविधि यज्ञकार्य सम्पन्न कराने वाला व्यक्ति आचार्य कहलाता है। यह ऋत्विजों में प्रधान होता है। आचार्य की नियुक्ति यजमान के स्वयं की शाखा वाले ब्राह्मणों में से ही करनी चाहिये। यथा—

वेदैकनिष्ठं कुलीनं धर्मज्ञं श्रोत्रियं शुचिम्।
स्वशाखारूढमानास्यं विप्रं कर्मार्हमीप्सितम्।।

रुद्रयामल में आचार्य को सर्वाध्यक्ष कहा गया है। आचार्य को याज्ञिक विधि-विधान का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान अपेक्षित है।

ऋत्विज—यज्ञार्थ वरण किये गये विद्वान् ब्राह्मणों को ऋत्विज कहा जाता है। बड़े यज्ञों में सोलह ऋत्विजों का वरण किया जाता है, जिनमें चार मुख्य होते हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा। इन चारों ऋत्विजों के कार्य में सहयोगार्थ **प्रत्येक** के साथ तीन-तीन सहयोगी ऋत्विज और होते हैं। इस प्रकार (४×४ = १६) सबको मिलाकर सङ्ख्या सोलह हो जाती है—

ब्रह्मणाच्छंसि प्रस्तोतृ मैत्रावरुणं प्रति प्रस्थातृ पोतृ।
प्रतिहर्तुच्छावाक् नेष्ट्राग्नीत्सु ब्रह्मण्यग्रावस्तु तदुन्नेतृवृणीते।।
(कात्यायन श्रौतसूत्र-७.१.७)

१. होता—होता का कार्य देवों का आवाहन करना है। ये ऋग्वेद की ऋचाओं का गायन करते हैं। इसी पद को 'आह्वाता' भी कहा जाता है। होता का आसन वेदी

के पश्चिम में उत्तर श्रोणी के निकट रहता है। उसके आसन को 'होत्रासन' कहते हैं। होता यज्ञ की नाभि माना गया है। जैसा कि काठकसंहिता (२६.१) में कथन है— 'नाभिर्वा यज्ञस्य होता।' श्रौतयाग तथा सोमयागों में होता को प्रमुखता प्राप्त है। होता का चमस एवं दण्ड वृत्ताकार चिह्नयुक्त होता है।

होता के सहयोगी ऋत्विज—यज्ञ में होता का सहयोग करने के लिये जो तीन सहायक ऋत्विज होते हैं, उनके नाम प्रशास्ता, अच्छावाक् तथा ग्रावस्तु होते हैं।

(क) प्रशास्ता—यह अन्य ऋत्विजों को अनुशासित करता है; इसलिये इसे 'प्रशास्ता' कहा जाता है। यही मैत्रावरुण भी है।

(ख) अच्छावाक्—यह ऋत्विज ऋचाओं का अच्छा (सुस्पष्ट) उच्चारण करने में ऋत्विजों तथा होता का सहयोग करता है। अत: इसे 'अच्छावाक्' कहते हैं।

(ग) ग्रावस्तु—इसे 'ग्रावस्तृ' भी कहा जाता है। सोमयाग में यह सोमपेषण के कार्य की देख-भाल करता है; अत: 'ग्राव' कहलाता है।

२. अध्वर्यु—यह यज्ञीय विधियों का ज्ञाता तथा सञ्चालनकर्त्ता होता है। यह श्रौत याग का प्रमुख ऋत्विज है। यह यजुर्वेदीय होता है। यज्ञारम्भ अध्वर्यु के द्वारा ही होता है तथा समापन भी इसी के द्वारा होता है। अध्वर्यु यजुर्वेदीय मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। तब होता उसका अनुकरण करते हैं। अध्वर्यु यज्ञ की प्रतिष्ठा कहा गया है। 'अध्वर' शब्द में 'क्यच्' तथा 'युच्' प्रत्यय जुड़कर 'अध्वर्यु' शब्द बनता है। 'अध्वर' का अर्थ 'यज्ञ' होता है।

अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज—अध्वर्यु के कार्य में सहयोग करने के लिये तीन अन्य ऋत्विज होते हैं— प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा तथा उन्नेता।

(क) प्रतिप्रस्थाता—जब अध्वर्यु का मन्त्रोच्चारण रुकने को होता है तो प्रतिप्रस्थाता उसे आगे बढ़ाता है।

(ख) नेष्टा—यह अध्वर्यु के स्वर में स्वर मिलाकर मन्त्रोच्चारण करता है।

(ग) उन्नेता—उन्नेता अध्वर्यु द्वारा उच्चारित मन्त्र की ध्वनि का उन्नयन करता है अर्थात् स्वर को ऊँचा कर देता है।

३. ब्रह्मा—इसे ब्रह्मन् भी कहते हैं। श्रौत याग विधिपूर्वक सम्पन्न हो— इस पर दृष्टि रखना ब्रह्मा का कार्य है। ब्रह्मा की अनुमति से ही यज्ञकार्य प्रारम्भ होता है। यज्ञकार्य में विषमता (विधिहीनता) होने पर ब्रह्मा को प्रायश्चित्त करना होता है। जब ब्रह्मा की स्वीकृति मिल जाती है तब होता देवों का आवाहन करता है। ब्रह्मा का अथर्ववेदीय होना उत्तम माना गया है। जैसा कि गोपथब्राह्मण में कथित है—

'एता ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद्भृग्वङ्गिरेविद्' (१.२.१८)

ब्रह्मा ही यज्ञ का हृदय होता है—'हृदयं वै ब्रह्मा'।

ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज—ब्रह्मा के तीन सहयोगी ऋत्विज होते हैं। उनके पदनाम ब्राह्मणाच्छंसि, आग्नीध्र तथा पोता होते हैं।

(क) ब्राह्मणाच्छंसि—इसे 'अच्छंसि' भी कहते हैं। यह मन्त्रोच्चार की शुद्धता का ध्यान रखता है।

(ख) आग्नीध्र—इसे 'अग्नीत्' भी कहा जाता है। यज्ञाग्नि ठीक से प्रज्वलित रहे तथा अग्निजन्य उपद्रव न हों, यह इसी बात का पूरा ध्यान रखता है।

(ग) पोता—पोता का अर्थ है—पवित्रता करने वाला। इसे 'पोतृ' भी कहते हैं। यह मण्डप में जल की आपूर्ति का भी ध्यान रखता है। पोता से पवित्रीकरण की अपेक्षा की गयी है—'यः पोता स पुनातु मा' (यजुर्वेद-१९.४२)।

४. उद्गाता—यज्ञ में सामवेदीय मन्त्रों का विशेषज्ञ ऋत्विज उद्गाता होता है। यह सामगान में निष्णात होता है। सामगान के पाँच भेदों (प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन) में उद्गाता उद्गीथ अंश का गायन करता है। उद्गाता का चमस उद्गातृ चमस कहलाता है। उद्गातृ चमस तथा उद्गातृ दण्ड में त्रिकोण चिह्न होता है।

उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज—उद्गाता के गायन में सहयोग करने वाले प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य होते हैं।

(क) प्रस्तोता—सामवेद के प्रस्ताव नामक अंश को प्रस्तुत करना प्रस्तोता का कार्य है। इसे 'प्रस्तोतृ' भी कहा जाता है। यह प्रस्तावकर्ता होता है।

(ख) प्रतिहर्त्ता—प्रतिहरण के कारण इसे प्रतिहर्त्ता कहते हैं। यह ऋत्विज सामवेद के 'प्रतिहार' नामक भाग का पाठ करता है।

(ग) सुब्रह्मण्य—इसी को 'उपगाता' भी कहा जाता है। यह उपद्रव नामक सामवेदीय भाग का गान करता है।

निधनपाठ—सामवेद के 'निधन' नामक भाग का पाठ उद्गाता तथा उसके सहयोगी प्रस्तोता, प्रति-हर्त्ता तथा सुब्रह्मण्य सभी करते हैं।

सदस्य—यदि यज्ञ में और अधिक सहयोग की आवश्यकता हो तो सदस्य का वरण भी (शतपथ ब्राह्मण के अनुसार) कर लिया जाता है। यह ब्रह्मा का भी सहयोग करता है।

गाणपत—बड़े यज्ञों में विद्वान् पण्डितों के दल का मुखिया प्रायः 'गणपति' या 'गाणपत' कहा जाता है। यज्ञकार्य में किसी प्रकार का विघ्न न हो, यह देखना इसका कार्य है।

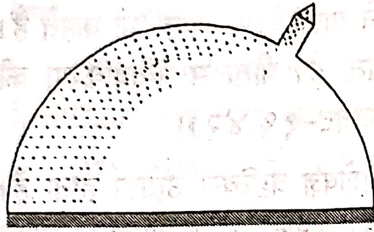
जापक—मन्त्र जपहेतु वरित ब्राह्मणों को 'जापक' कहते हैं। ये उपांशु जप करते हैं।



परिशिष्ट- २

यज्ञीय पात्रों का परिचय

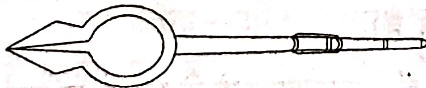
१. अन्तर्धानकट—इस पात्र या उपकरण का निर्माण वारणकाष्ठ अथवा अश्वत्थ-काष्ठ से करते हैं। यह बारह अङ्गुल लम्बा, छः अङ्गुल चौड़ा तथा आधा अङ्गुल मोटा होता है—'अन्तर्धानकटस्त्वर्धचन्द्राकारो द्वादशाङ्गुलः।' इसमें पकड़ने के लिये मुठिया लगी होती है तथा यह अर्द्धचन्द्राकार होता है। दर्शपौर्णमासादि यज्ञों में देवपत्नियों को आहुति प्रदान करने के लिए 'पत्नीसंयाज' किया जाता है। यज्ञ-पत्नियाँ अपना भाग लेने के लिये उसमें पधारती हैं तो उन्हें लज्जा का अनुभव होता है; अतः उनको गोपित (अन्तर्धान) रखने के लिये इस उपकरण को गार्हपत्य कुण्ड के ऊपर यजमान तथा यजमान-पत्नी के बीच में विष्कम्भ (पर्दे) के रूप में रखना चाहिये। इसका निर्माण विकङ्कत काष्ठ से भी हो जाता है।



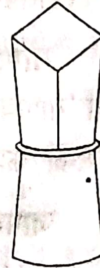
२. अभ्रि—यह एक अङ्गुल की मोटाई का लम्बा नोंकदार उपकरण है, जो स्तम्भादि के लिये गर्त खोदने के काम में आता है। यह लम्बी खुरपी-जैसी धारदार भी होती है। इसे कुसिया या सम्ब-लिया या कतरा की खुरपी आदि कहा जाता है। यह काठ या बाँस की भी होती है।



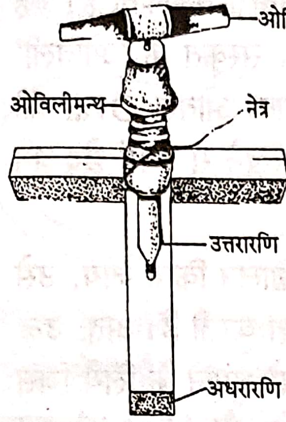
३. अग्निहोत्र हवणी—यह विकङ्कत काष्ठ से निर्मित एक विशेष प्रकार की स्रुचि होती है, जो बाहुप्रमाणतुल्य लम्बी तथा चार अङ्गुल गर्त वाली होती है। इसका मुख जुहू की भाँति हंस की चोंच-जैसा होता है। इसका उपयोग श्रौताग्निहोत्र में होता है। इसमें स्रुवा से घी लेकर होम किया जाता है। आपस्तम्ब शाखा में इसकी लम्बाई २४ अङ्गुल निर्दिष्ट है।



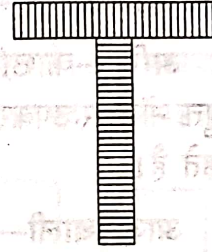
अदाभ्य पात्र—सोमरस के लिये उपयोग में आने वाला पात्र अदाभ्य पात्र होता है।



अरणिमन्थन उपकरण—श्रौताग्नि प्रकट करने के लिये मन्त्रोच्चारपूर्वक अरणि-मन्थन किया जाता है। इस कार्य में जो उपकरण प्रयुक्त होता है, उसे 'अरणिमन्थन उपकरण' कहते हैं। इसे कई प्रकार का बना लिया जाता है। यहाँ दो प्रकार से निर्मित अरणि-मन्थन उपकरणों का चित्र दे रहे हैं। उनमें एक में उपकरण पूरा एक साथ प्रदर्शित है तथा दूसरे प्रकार के उपकरण में उसके अलग-अलग भाग (पुर्जे) प्रदर्शित किये गये हैं। इस पात्र के निर्माण में 'अरणी' नामक लकड़ी का उपयोग प्रमुखता से होने से ही इसे 'अरणिपात्र' कहा जाता है।



अधरारणि—अग्निमन्थन कार्य में चार अवयव होते हैं। नीचे जिस काष्ठ को रख कर मन्थित किया जाता है, उसे 'अधरारणि' कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं। इसका निर्माण इस प्रकार करते हैं कि अरणिमन्थन के समय यह पृथ्वी पर दृढ़ता से लगा रहे, इधर-उधर न हो।

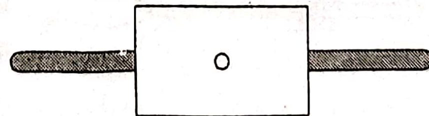


उत्तरारणि—अधरारणि के ऊपर अरणिकाष्ठ से निर्मित बेलनाकार कुछ लम्बी (अरणिप्रमाण) लकड़ी लगाते हैं, जो नीचे की ओर नोंकदार तथा ऊपर की ओर कील (लोहे की) गड़ी रहती है। नीचे के भाग से अधरारणि को मथा जाता है। इसके मध्य में मोटाई होती है, जिसमें वलय बने होते हैं, जिनमें रस्सी (नेत्र) लगाकर घुमाते हैं। इसी को 'उत्तरारणि' कहते हैं। इसके द्वारा मन्थन किया जाता है; अत: इसे मन्थ, प्रमन्थ, मन्थी भी कहते हैं। इसके नीचे वाले नुकीले आठ अङ्गुल के भाग को 'चात्र' तथा 'उपमन्थ' कहते हैं। यही मन्थनदण्ड भी है।



ओविली—मन्थनदण्ड की ऊपरी भाग वाली कील में आड़ा करके जो गुल्ली के आकार का काष्ठ लगता है, उसे 'ओविली' कहा जाता है। ओविली खैर काष्ठ की बनती है, जिसकी लम्बाई बारह अङ्गुल तथा मोटाई दो अङ्गुल होती है। इसे एक व्यक्ति पूरे जोर से मन्थनदण्ड पर रखकर दबाता है तथा दो व्यक्ति आमने-सामने बैठकर मन्थनदण्ड को नेत्र (नौतनी) द्वारा शीघ्रतापूर्वक घुमाकर मन्थन


(ओविली शुद्ध प्रकार)


(उपमन्थ ओविली)

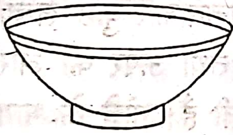
करते हैं तो अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जिसे रुई तथा कर्पूर में स्पर्श करा दिया जाता है और वह प्रज्वलित हो उठती है। यह ऊपरी भाग ही ओविली कहलाता है। यह मध्य में अण्डाकार होती है। अतः इसे 'आविली' कहते हैं। संस्कृत के 'ओविली' शब्द से ही लैटिन भाषा के शब्द Ovalis तथा अंग्रेजी शब्द ओवल Oval की व्युत्पत्ति है। इसके मध्य को मन्थी (उत्तरारणि) की कील पर रखने से इसमें छेद बन जाता है और यह मन्थी पर जमी रहती है।

नेत्र—'नीयते अनेन इति नेत्रम्' अर्थात् जिसके द्वारा सञ्चालन किया जाय, उसे 'नेत्र' कहते हैं। प्राणियों की आँखें चलने-फिरने में दिशानिर्देश करती हैं। अतः उन्हें नेत्र कहा जाता है तथा दधिमन्थन या अरणिमन्थन में मन्थी को घुमाने के लिये जिस रस्सी का प्रयोग होता है, उसे नेत्र कहा जाता है। हिन्दी में इसे 'नौतनी' या 'नौतना' कहते हैं। यह सन से बनाई जाती है।

असि—काष्ठविदारण में प्रयुक्त नोंकदार उपकरण को असि कहते हैं।



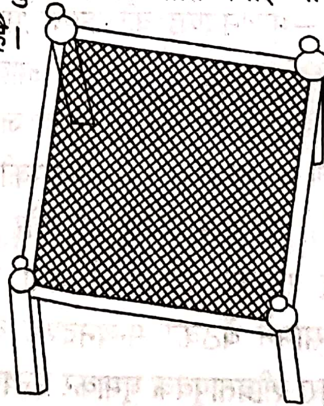
आज्यस्थाली—घृत को 'आज्य' कहा जाता है। इसके लिये प्रयुक्त पात्रविशेष को 'आज्यस्थाली' कहते हैं। यह धातु या मिट्टी से बनती है। यह चौड़े मुँह वाले कटोरे की भाँति होती है।



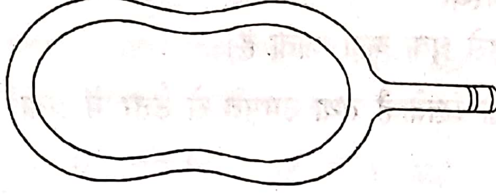


आदित्यग्रह पात्र—इस पात्र का उपयोग प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज करता है। इसका प्रयोग करने से गोवृद्धि होती है।

आसन्दी—ऊमर, खैर आदि की लकड़ी से बनी हुई खाट को 'आसन्दी' कहते हैं। इनका उपयोग यज्ञ में अनेक प्रकार से होता है। अतः इनके मान भी भिन्न-भिन्न कहे गये है। राजासन्दी आजकल की कुर्सियों की भाँति बनाई जाती है। सोमरस रखने के लिये सोमासन्दी का प्रयोग होता है।

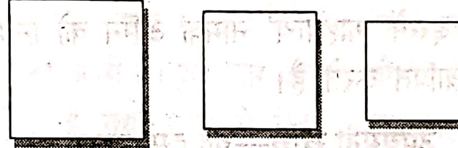


इडापात्री—जब यज्ञ समाप्त होता है तब उस अवसर पर बचे हुए हविर्द्रव्य को इडापात्री में रखकर होता को दिया जाता है। इस शेष द्रव्य का नाम 'इडा' है। होता



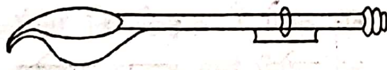
मन्त्रपाठ करता है तथा ऋत्विज एवं यजमान उस इडा का भक्षण करते हैं। यह पात्र वारणकाष्ठ का एक हाथ लम्बा तथा आठ अङ्गुल चौड़ा तथा कुछ गोल होता है। इसका दण्ड (बेंट) चार अङ्गुल का होता है तथा इसकी परिधि (किनारी) दो अङ्गुल ऊँची तथा एक अङ्गुल चौड़ी होती है। इस पात्र में होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु, आग्नीध्र तथा यजमान का भाग रक्खा जाता है। तैत्तिरीय शाखा वालों की इडापात्री चौकोर होती है। आपस्तम्ब शाखा में इसके स्थान पर दारुपात्री का उपयोग होता है।

इष्टका—विभिन्न प्रकार की ईंटों को 'इष्टका' या 'इष्टिका' कहते हैं। इन्हें पकाया जाता है। यजुष्मती, मण्डल, वृषभ तथा विकर्णी आदि इष्टकाओं के भेद हैं। मण्डल इष्टका वृत्ताकार होती है। यजुष्मती का उपयोग हवनकुण्ड के निर्माण में होता है। विकर्णी प्रथम तथा तृतीय कोने पर दीर्घ तथा द्वितीय चतुर्थ कोण पर ह्रस्व



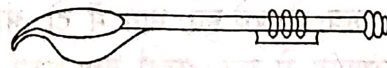
होती है (इसका आकार ताश के पत्ते पर बनी ईंट के सदृश होता है)। वृषभ इष्टका आजकल की प्रचलित ईंटों की भाँति मोटी तथा कम चौड़ी होती है; जबकि यजुष्मती पतली तथा लम्बी होती है।

उपभृत—यह अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी से बनी हुई स्रुचि होती है, जिसका



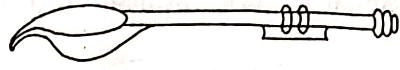
आकार जुहू की भाँति होता है। जब जुहू का आज्य समाप्त हो जाता है तो उपभृत में से आज्य लेकर आहुति देते हैं। यज्ञारम्भ के पूर्व से ही इसमें आठ स्रुवा घृत रख दिया जाता है।

जुहू—यह उपकरण पलाश (ढाक) की लकड़ी से बनता है, जिसकी लम्बाई अरत्निप्रमाण (कोहनी से कलाई तक) होती है। इसलिए इसे अरत्निक भी कहते हैं। इसमें चार अङ्गुल का गर्त होता है तथा मुख हंस के चोंच-जैसा होता है। यह एक प्रकार की स्रुचि ही है। जुहू को यज्ञ का मुख कहा गया है। जुहू में आज्यस्थाली से चार स्रुवा घृत लेकर रख देते हैं।



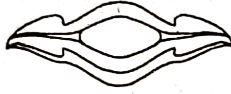
ध्रुवा—यह वारणकाष्ठ से बनता है। किसी-किसी के मत से यह विकङ्कत की

लकड़ी का बनता है। इसका माप तथा आकार भी जुहू जैसा ही होता है और इसमें भी चार स्रुवा घृत रखा जाता है। 'समष्टि यजु' नामक होम में यह यज्ञ की समाप्ति तक स्थिर रूप (ध्रुव) से रखा रहता है। इसीलिये इसे ध्रुवा कहा जाता है।



विशेष—जुहू के उत्तर में उपभृत को रखते हैं तथा उपभृत से उत्तर में ध्रुवा रखा जाता है।

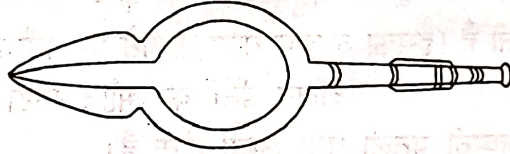
ऋतुपात्र—इसे 'ऋतुग्रह' भी कहते हैं। इस पात्र से अग्निष्टोम याग में द्वादशाहुति दी जाती है। अग्निष्टोम में अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता ऋत्विज होते हैं। ऋतुग्रह से आहुतियाँ देने पर एक शफ वाले पशुओं (अश्वादि) की वृद्धि होती है। इसका निर्माण काश्मरी (गम्भारी) के काष्ठ से करते हैं; जिसके दोनों तरफ हंसमुख-जैसी नलिकायें होती हैं।



सोमयाग में सोमरस के ग्रहण-हेतु भी 'ऋतुग्रह' नामक पात्र होता है।

उपयमनी—अग्नि का प्रस्थापन करने वाले मृत्तिकापात्र को 'उपयमनी' कहते हैं। इसमें 'गार्हपत्य' नामक अग्नि को निकाल कर उत्तर वेदी तथा आहवनीय में प्रस्थापित करते है।

उपयमनी स्रुचि—यह दूसरे प्रकार की होती है। यह जुहू से बड़ी तथा काष्ठनिर्मित होती है। इससे घर्मपात्र में से घृत का ग्रहण किया जाता है।

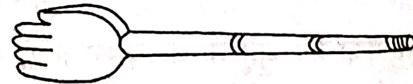


अपयाम—यह ग्रहपात्र होता है, जो द्रव रखने के काम में लिया जाता है।

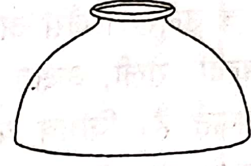
उपवेष—यह काष्ठपात्र होता है, जिसका आकार आगे से कड़छी की भाँति तथा पीछे पकड़ने के लिये डण्डा लगा रहता है। अग्निहोत्री विप्र इसका उपयोग 'खर' नामक अग्नि को हटाने के लिये करते हैं। आपस्तम्ब शाखा में उपवेष के स्थान पर धृष्टि का उपयोग होता है।



धृष्टि—यह पलाशकाष्ठ से बनता है। आपस्तम्ब शाखा में इसे विकङ्कत काष्ठ से बनाते हैं। यह एक हाथ लम्बी अग्रभाग में चार अङ्गुल चौड़ी एवं तीक्ष्णाग्र होती है। अग्र से बचे हुए भाग में दो अङ्गुल गोल स्थूलदण्ड से युक्त अङ्गार तथा भस्म को हटाने के लिये उपयोग करते हैं। आपस्तम्ब शाखा वाले इसका उपयोग दर्शपौर्ण मास याग में करते हैं।

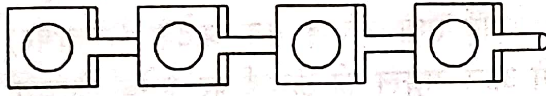


धृष्टि तथा उपवेश—इन दोनों उपकरणों का उपयोग एक-दूसरे के स्थान पर भी हो जाता है।

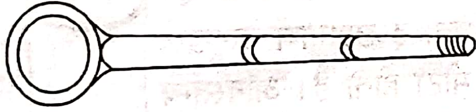


उपसर्जनी—यह ताँबे की बनी बटलोई होती है, जिसमें उपसर्जन जल रक्खा रहता है। इसमें यज्ञकार्य हेतु जल सञ्चित किया जाता है। इसी जलसहित पात्र को उपसर्जनी कहते हैं।

करम्भपात्री— यह जौ के आटे से डमरू-जैसे आकार में बनायी जाती है। मध्य में इसकी मोटाई एक अङ्गुल होती है। यजमान के जितनी सङ्ख्या में सन्तान हो, उतनी सङ्ख्या में करम्भपात्र रखे जाते हैं। करम्भपात्रों की सङ्ख्या सन्तान से एक अधिक होनी चाहिये। करम्भपात्रों को चातुर्मास्य याग में रखते हैं। दधि तथा दक्षिणाग्नि में पकाए गए सत्तू को 'करम्भ' कहते हैं। इसमें चार पात्र कटोरी की भाँति हुआ करते हैं।



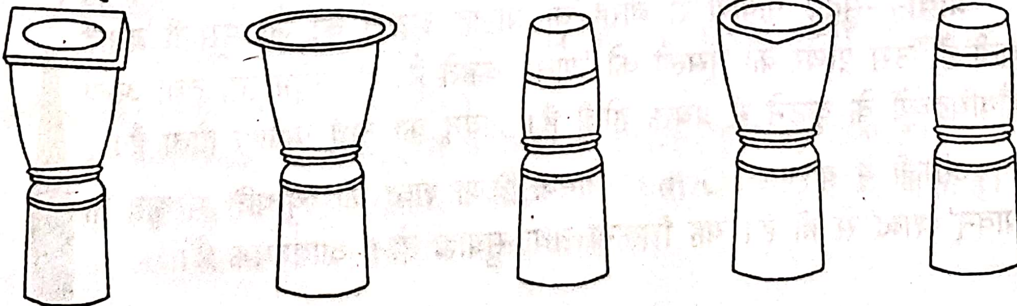
दर्वी—यह विकङ्कत-काष्ठ से बनती है। इसका आकार करछुल-जैसा होता है। चातुर्मास्य याग में हवि की आहुतियाँ इसी से दी जाती हैं। यह चार अङ्गुल चौड़ाई की होती है तथा मध्य में एक अङ्गुल गहरा खात होता है। चमचा तथा कड़छी के आकार के पात्र 'दर्वी' कहलाते हैं।



गोकर्ण—इसे शृतावदान पात्र भी कहा जाता है। यह विकङ्कत काष्ठ से बनता है। यह अग्रभाग में अङ्गुष्ठपर्व-जितना चौड़ा तथा तीखे अग्र वाला होता है तथा दश अङ्गुल लम्बा होता है। इसके अग्रभाग से बचे भाग में एक अङ्गुल दण्ड वाला पक्व पुरोडाश के तोड़ने में काम आता है। पितृयाग में इस पात्र को गोकर्णसदृश बनाते हैं; अत: तब इसी को 'गोकर्ण' भी कहते हैं। आपस्तम्ब शाखा के पितृयज्ञ में बारह अङ्गुल का शृतावदान बनता है तथा इसे गौ के कानसदृश अग्र वाला बनाते हैं।



ग्रहपात्र—विविध प्रकार के द्रव पदार्थ तथा हवन-सामग्री के लिये विकङ्कतकाष्ठ



या उदुम्बरकाष्ठ से ये पात्र बनाये जाते हैं। ये पात्र चार अङ्गुल की गोलाई वाले होते हैं, जिनके ऊपरी भाग में एक अङ्गुल गहरा खात होता है। मध्य में कुछ सङ्कुचित एवं उलूखल-जैसे आकार के होते हैं। इनमें पूजा आदि की सामग्री; जैसे—पिसी हल्दी, रोली, अक्षत, सिन्दूर, इलायची, मधु, शर्करा, चन्दन जैसे पदार्थ भी रख सकते हैं। विभिन्न यागों में सर-स्वतीग्रह, आश्विनग्रह, उपांशुग्रह, अन्तर्यामग्रह, मन्थी-ग्रह, उक्थ्यग्रह, दधिग्रह, षोडशग्रह, अतिग्राहग्रह आदि सत्रह ग्रहपात्र होते हैं।

उखा—दस अङ्गुल ऊँची, दस अङ्गुल चौड़ी तथा दस अङ्गुल लम्बी गोल मटकी सदृश छिद्रयुक्त मञ्जूषा 'उखा' कहलाती है। शतपथ ब्राह्मण में इसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई एक प्रादेश (बित्ताभर) बताई गयी है, जिसमें आठ अङ्गुल की ऊँचाई पर अनेक छेदयुक्त नेत्र बने रहते हैं, जिनसे वायु प्रविष्ट होती रहती है। अग्निहोत्री इसमें अग्नि रखकर प्रवास पर ले जाते हैं। उखा जिस आसन्दी पर रखी जाती है, उसे 'उखा आसन्दी' कहते हैं।



उलूखल—यह पलाश, खदिर अथवा वारणकाष्ठ से बनता है। इसकी लम्बाई दस अङ्गुल या जानुप्रमाण अथवा इच्छाप्रमाण उलूखल बनवाना चाहिये। यह गोलाई में चार अङ्गुल मोटा होता है। आपस्तम्ब शाखा तथा आश्वलायन में उलूखल की मोटाई केवल छः अङ्गुल ही रक्खी जाती है।



यह मध्य में सङ्कुचित होता है तथा इसमें डालकर पुरोडाशसम्बन्धी व्रीहि को मूसल से कूटते हैं।

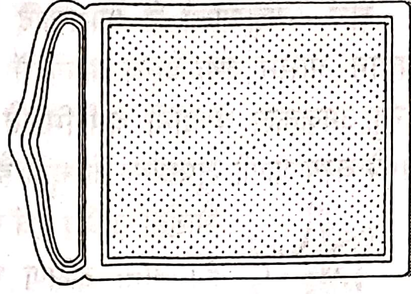
मुसल—यह दश अङ्गुल लम्बा तथा आवश्यकतानुसार मोटा बनाया जाता है। मध्य से कुछ नीचे भाग में यह पतला होता है, जिससे पकड़ने में सुविधा रहती है। दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में व्रीहि आदि धान्य इससे कूटे जाते हैं। यह खैर या पलाशकाष्ठ से निर्मित होता है। आश्वलायन शाखा में यह खैर की लकड़ी से बहुत छोटा अर्थात् मात्र छः अङ्गुल लम्बा ही बनाते हैं।



ग्रावा—सुदृढ़ पाषाण से बारह या सोलह अङ्गुल की जो मूसली बनाई जाती है, उस पत्थर की मूसली को 'ग्रावा' कहते हैं। यह सोमलता तथा अन्य औषधिद्रव्यों के कूटने में प्रयुक्त होती है। ग्रावन् का अर्थ पाषाण होता है।

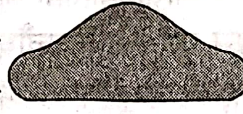
अंग्रेजी में ग्राइण्ड (Grind) नामक क्रिया शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'ग्रावन्' शब्द से ही है। यह चिकना तथा सुग्राह्य होना आवश्यक है।



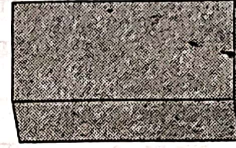


हृषद् (दृषत्)—पत्थर की सिल, जिस पर ग्रामों में चटनी आदि पीसते हैं, 'हृषत्' कही जाती है। यह दस अङ्गुल लम्बी तथा आठ अङ्गुल चौड़ी होनी चाहिये। अथवा इसे आवश्य-कतानुसार इससे छोटी या बड़ी इच्छाप्रमाण बनवा सकते हैं।

उपला—जिस पत्थर के उपकरण से सिल (हृषद) पर रखकर द्रव्य पीसते हैं, उसे 'उपल' या 'लोष्ट' (लोढ़ा या लोढ़ी) कहते हैं।

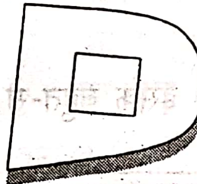


लोष्ट

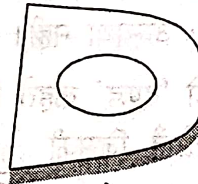


उपला

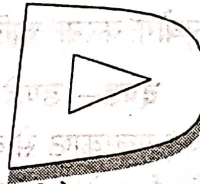
चमस—ये विकङ्कतकाष्ठ से बनाये जाते हैं। यह चमचे के आकार का यज्ञीय पात्र होते हैं, जो बारह अङ्गुल लम्बे, छः अङ्गुल चौड़े, चार अङ्गुल ऊँचे तथा तीन अङ्गुल गर्त वाले होते हैं। इनमें तीन अङ्गुल का दण्ड होता है। ये प्रणीतापात्रसदृश होते हैं, जो सोमरस रखने, होम करने तथा जल के उपयोग के लिये होते हैं। ये सङ्ख्या में दश होते हैं, जो अपने दण्डों में पृथक्-पृथक् चिह्न से अङ्कित होते हैं। दण्डों से चमसपात्र संलग्न रहते हैं।



चतुरस्र-ब्रह्माचमस



मण्डल-होतृचमस



त्रिकोण-उद्गातृचमस



नेष्ट्र-चमसदण्ड



प्रशातृ-चमसदण्ड

१. होता के चमसदण्ड में गोल चिह्न होता है।
२. ब्रह्मा के चमस में चतुरस्र चिह्न होता है।
३. उद्गातृ के चमस में त्रिकोण चिह्न रहता है।
४. यजमान का चमसदण्ड अग्रभाग में चौड़ा होता है।
५. प्रशास्ता के चमसदण्ड का अधोभाग टेढ़ा होता है।
६. ब्राह्मणाच्छंसि के चमस का ऊपरी भाग वक्र होता है।
७. नेष्टा का चमसदण्ड दो टुकड़ों का होता है अर्थात् उसके दोनों टुकड़े अलग-अलग ही दिखते हैं।
८. अच्छावाक् का चमसदण्ड अग्रभाग में तीक्ष्ण (नुकीला) होता है।
९. पोता ऋत्विज का चमस दण्ड आगे चलकर दो शाखाओं में बँट जाता है।
१०. तानूनप्त्र चमस प्रणीतापात्र-सदृश बनता है।



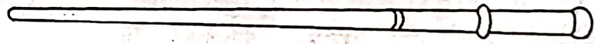
चमसपात्र

चर्म—यज्ञशाला में आसनादि में व्याघ्रचर्म, मृगचर्म (कृष्णाजिन) आदि का उपयोग आसन तथा अन्य कार्यों में होता है; परन्तु आजकल ये दोनों चर्म मिलते ही नहीं है। ये वन्य प्राणी लुप्तप्राय हो चुके हैं। इनका आखेट अवैध एवं दण्डनीय है। अतः दक्षिण भारत के अनेक वनवासी जातियों के लोग इस युग की चकाचौंध में धनार्जन हेतु नगरों में नगरपालिकाओं द्वारा फेंके गये मृत कुत्तों की खाल उतारकर उसे रंग कर व्याघ्र के शरीर का रूप दे देते हैं; अतः ये वस्तुयें यदि किसी राजघराने या सम्पन्न घराने में प्राप्त हो जायँ तो ही इनका उपयोग करना चाहिये; अन्यथा नहीं।

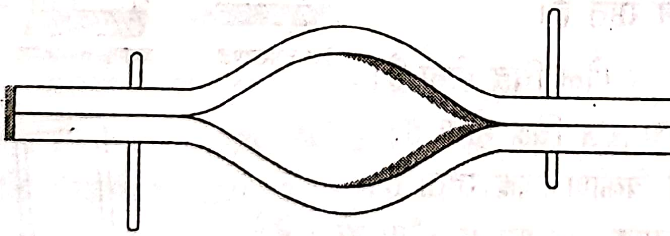

व्याघ्र चर्म


कृष्णमृग चर्म

दण्ड—डण्डे को 'दण्ड' कहते हैं। इसके बहुत-से उपयोग हैं। यजमान का दण्ड गूलरकाष्ठ से बनाते हैं, जिसकी ऊँचाई उसके पैरों से लेकर मुखपर्यन्त होना चाहिये। अग्निष्टोम याग में यजमान ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए आत्मरक्षार्थ दण्ड धारण करता है।

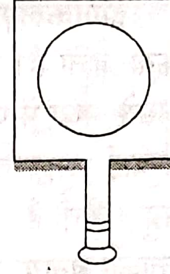


परीशास—यह काठ का बना उपकरण होता है, जिसकी सहायता से महावीर पात्र को पकड़कर उठाते हैं। यह दो हाथ लम्बे, दो अङ्गुल मोटे तथा दो हाथ चौड़े गूलरकाष्ठ से बनता है। यह मध्य में इस प्रकार का बनता है, जिससे महावीर पात्र का गला पकड़ में आ जाता है। आपस्तम्ब शाखा वाले इसे 'शफ' कहते हैं। इस उपकरण के दोनों सिरे (छोर) काष्ठ की कीलों से परस्पर जुड़े रहते हैं, जिनके द्वारा उपकरण को शिथिल तथा दृढ़ किया जाता है।



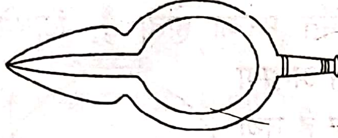
गलग्राही—धातुओं से निर्मित संडसी को 'गलग्राही' कहा गया है, जिसका उपयोग विभिन्न कार्यों में होता है।

पुरोडाश पात्री—यह वारणकाष्ठ से बनती है। यह दश अङ्गुल की वर्गाकार होती है, जिसके मध्य में छः अङ्गुल का वृत्त तथा यवमात्र खात होता है। इसकी

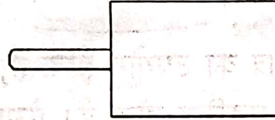


मोटाई एक अङ्गुल मोटी होती है। इसके मूल में पकड़ने के लिये दो अङ्गुल का दण्ड (वृन्त या बेंट) होता है। इसका प्रयोग पुरोडाश के स्थापन में होता है। पुरोडाश का निर्माण जौ के या व्रीहिधान्य (सामा, कोदों, ककुनी, कूरी, चावल आदि) के आटे से किया जाता है। इसको कपालों (मिट्टी के तवों या खपड़ों) पर पकाया जाता है। पुरोडाश संस्कारादि में बनता है।

प्रोक्षणी पात्र—जिस पात्र में प्रोक्षण कर्म (पानी का छिड़काव) हेतु जल रहता है, उसे ही प्रोक्षणी या प्रोक्षणी पात्र कहा जाता है। पवित्र जल से पूरित कलश को प्रोक्षणी कलश कहा जाता है। परन्तु यह बहु प्रचलित पात्र बारह अङ्गुल लम्बा, मध्य में पाँच अङ्गुल गोल तथा तीन अङ्गुल गहरा होता है। इसमें दो अङ्गुल का दण्ड होता है। यह हंसमुखसदृश नालीदार तथा चौकोर दोनों प्रकार का होता है।

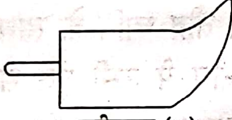


प्रोक्षणी (१)



प्रोक्षणी (२)

प्रणीता पात्र—यह वारणकाष्ठ से निर्मित बारह अङ्गुल लम्बा, छः अङ्गुल चौड़ा तथा चार अङ्गुल गहरा एवं परिधियुक्त होता है। इसमें दो अङ्गुल का दण्ड (मूठ) लगा रहता है। इसका प्रयोग तो छोटे हवनों में भी होता है।

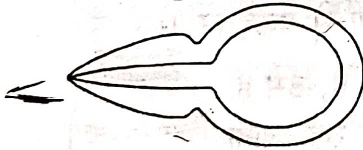


प्रणीतापात्र (१)

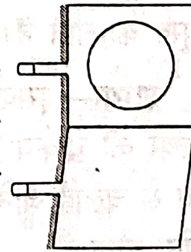


प्रणीतापात्र (२)

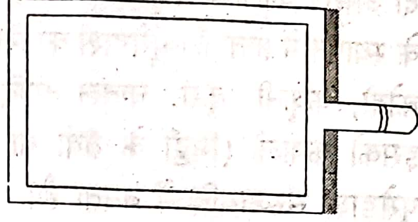
परिप्लवा—यह वारणकाष्ठ से निर्मित दण्डरहित (विना मूँठ) का पात्र होता है। यह स्रुक् जैसा पात्र होता है। इसकी लम्बाई दस अङ्गुल तथा चौड़ाई पाँच अङ्गुल होती है। यह गोलाई लिये होती है, जिसकी परिधि दो अङ्गुल मोटी होती है। इसमें तीन अङ्गुल परिमाण खात (गर्त) होता है। इसका मुख हंसमुख की तरह होता है। इससे सोमरस को द्रोण कलश आदि से ग्रहण करते हैं।



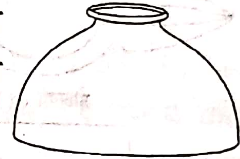
प्राशित्र—यह पाँच अङ्गुल लम्बा तथा चार अङ्गुल चौड़ा आयताकार पात्र होता है। इसकी मोटाई एक अङ्गुल होती है तथा मध्य में गोलाकार यवमात्र खात होता है। इस पर ढक्कन (पिधान) भी होता है। इसमें रखकर पुरोडाश ब्रह्मा को दिया जाता है, जिसे ब्रह्मा भक्षण करता है। यह खैरकाष्ठ से बनता है। पुरोडाश के अभाव में इसमें हविर्द्रव्य रखकर होता को दिया जात्ता है। इसे प्राशित्रहरण भी कहते हैं।



द्रोणकलश—इस पात्र में सोमरस छानते हैं; अतः तदनुरूप ही इसका निर्माण किया जाता है। यह विकङ्कतकाष्ठ से बनता है, जिसके मध्य में परिधिसहित गर्त होता है। इसकी लम्बाई अट्ठारह अङ्गुल एवं चौड़ाई बारह अङ्गुल होती है। आपस्तम्ब शाखा में यह कलश वृत्ताकार बनाया जाता है। इसका उपयोग अनेक प्रकार से कूटने-पीसने में होता है।



मणिका—यह विशाल आकार का मृत्तिकानिर्मित मटका होता है, जिसमें यज्ञशाला में प्रचुर प्रमाण में जल संगृहीत रखते हैं। इसे अम्भ्रण पात्र तथा मणिक भी कहते हैं। इसका मुख चौड़ा होता है तथा लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई इच्छाप्रमाण होती है।



महावीर पात्र—आज्यनिर्माण के लिये जिस मृत्तिकापात्र का उपयोग होता है, उसे महावीर पात्र कहते हैं। यह बीच में सङ्कुचित होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों एक मटके पर दूसरा मटका रखा हुआ है व दूसरे पर तीसरा। महावीर पात्र में घी भरकर खूब तपाते हैं; फिर इस तप्त घृत में दूध छोड़ते हैं। ऐसा करने से तीव्र ध्वनि के साथ अग्निज्वालायें निकलती हैं। तत्पश्चात् आहवनीय में उसी घृत से हवन करते हैं। आहुतियों के पश्चात् अवशिष्ट घृत का पान ऋत्विज लोग करते हैं। यह यज्ञ का शीर्ष माना गया है। यह पात्र बारह अङ्गुल ऊँचा तथा छः अङ्गुल व्यास वाला एवं मध्य में सङ्कुचित होता है। नौ अङ्गुल ऊपर एक मेखला बनाई जाती है। इसमें मूल से लेकर अग्रपर्यन्त गर्त होता है। महावीर पात्र को 'परीशास' नामक उपकरण से पकड़कर रखते हैं।



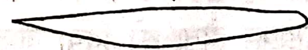
वसतीवरी—सोमयाग में नादेय जल का प्रयोग होता है, उसे ही वसतीवरी कहा जाता है। इस नदी जल को जिस पात्र में रखा जाता है, उस पात्र को वसतीवरी पात्र कहते हैं।



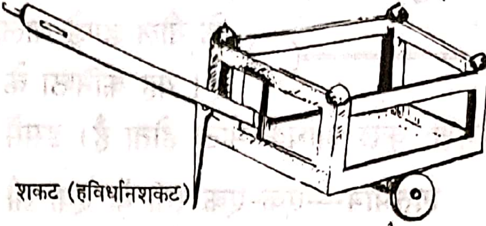
मयूख—बारह अङ्गुल लम्बे, एक अङ्गुल मोटे काष्ठशङ्कु मयूख कहलाते हैं। इनका निर्माण गूलरकाष्ठ से होता है।

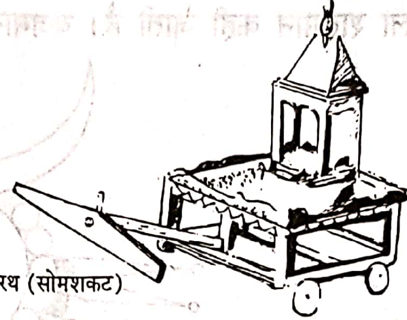


शम्या—इसका निर्माण वारण की लकड़ी से होता है। इसका अर्थ प्रस्तरचक्रिका (पत्थर की चकिया) के पाट को गोल घुमाने वाला कीला होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में हाथ से चलाई जाने वाली चक्कियों में आज भी इसका प्रयोग होता है।



शकट—इसका अर्थ गाड़ी होता है। वैदिक काल में यज्ञकार्य में इसका उपयोग होता था। यह दो पहियों वाली गाड़ी हुआ करती थी। इसका उपयोग हवि आदि आनयन के लिये होता था। इसे हविर्धान शकट भी कहते हैं। यह वारणकाष्ठ का बनता है, यह ढाई हाथ लम्बा तथा डेढ़ हाथ चौड़ा होता है। इसका आकार त्रिकोण या चौकोर होता है। इसकी ऊँचाई दो हाथ होती है। किसी-किसी में बैठने के स्थान में एक हाथ लम्बी-चौड़ी पटिया लगानी चाहिये। इसे शिखरयुक्त व शिखरहीन दोनों प्रकार का बनाते हैं।

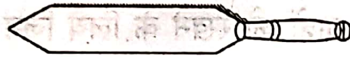

शकट (हविर्धानशकट)


रथ (सोमशकट)

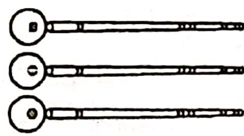
सम्भरणी—यह वारणकाष्ठ-निर्मित दण्डरहित बारह अङ्गुल का वृत्ताकार कटोरा होता है। इसमें सोम रखा जाता है।

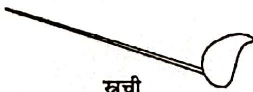


स्फय—यह खदिरकाष्ठ से निर्मित होता है। यह एक हाथ लम्बा तथा खड्ग-जैसा धारदार होता है। इसकी चौड़ाई चार अङ्गुल होती है। इसके मूल में चार अङ्गुल का दण्ड होता है। माध्यन्दिन शाखा में यह सीधा होता है और अन्य शाखाओं में कुछ टेढ़ा होता है। आश्वलायन शाखा वाले बारह अङ्गुल के स्फय का उपयोग करते हैं। हिरण्यकेशीय शाखा वाले वारणकाष्ठ के स्फय का उपयोग करते हैं, खदिर का नहीं। आश्वलायन शाखा वाले स्मार्तकर्म में वज्र का उपयोग नहीं करते; क्योंकि स्फय को वज्र का प्रतीक माना गया है। इसे आग्नीध्र नामक ऋत्विज ग्रहण करते हैं।



स्रुक्—घृतसंग्रह तथा घृताहुति के लिये स्रुक् का प्रयोग होता है। इसे स्रुचि तथा स्रुच् भी कहते हैं। यह विकङ्कतकाष्ठ की बाहुमात्र लम्बी मूल में अङ्गुष्ठ प्रमाण मोटी; फिर वहाँ से अग्र भाग तक कुछ स्थूल होती जाती है। ऐसे दण्ड वाली इसमें पाँच अङ्गुल गोलाई का मुख तथा मुख में तीन अङ्गुल का खात होता है। इसमें हंस-मुख-जैसी चोंच होती है। किसी-किसी के मत से यह बारह अङ्गुल लम्बी भी होती है। किसी ने कौवे की पूँछ के समान पूँछ वाली बयालीस अङ्गुल की स्रुचि कही है। वसोधारा के लिये स्रुचि विशेष प्रकार की बनती है।

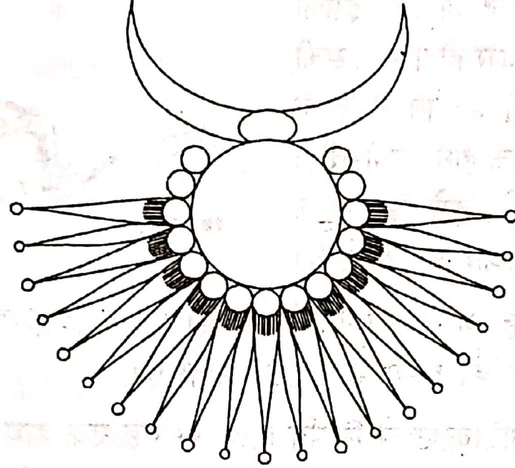



स्रुची

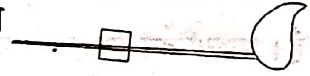

वसोधारा

स्रुव—यह खदिरकाष्ठ-निर्मित एक हाथ लम्बा तथा अँगूठे के पर्व की मोटाई के गोल डण्डे वाला होता है। इसके मुख में गोल बिल होता है। यह कनिष्ठा के अग्र जितना स्थूल होकर आगे की ओर क्रमशः कुछ अधिक मोटा होता है। इसमें अङ्गुष्ठप्रमाण का गर्त होता है।

शतमान—एक-एक रत्ती के एक सौ स्वर्ण मनकों से बनी हुई तथा गूँथी हुई माला शतमान कही जाती है। यजमान स्वर्णदक्षिणा में इसका दान करता है।



सम्भरण पात्र—वाजपेय यज्ञ में सत्रह प्रकार के अन्नों को रखने के लिये जिन अर्द्ध परिमाण वाले पात्रों का उपयोग होता है, उन्हें सम्भरण पात्र कहते हैं। यह काष्ठनिर्मित ढोल होता है।



शूर्प—यज्ञीय द्रव्यों को फटकने के लिये इसका उपयोग होता है।

